मई १८—मुम्बई, पौंडा, हुबली, कट्टाबोमन, पोर्टब्लेयर, विजयवाड़ा, नासिक, पोरबन्दर, कोटा, जबलपुर, राऊरकेला, कलकत्ता, भागलपुर, अयोध्या, ऋषिकेश, जम्मू, फिरोजपुर, अमृतसर, पानीपत, नई दिल्ली—१० जुलाई

भारतीय जनता पार्टी द्वारा प्रकाशित पुस्तिका

स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा

भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती को मनाने के लिये

श्री लाल कृष्ण आडवाणी

अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी

द्वारा

मुम्बई (१८ मई, १९९७) से

नई दिल्ली (१० जुलाई, १९९७) तक

आधी शताब्दी पूछती है, क्या हुआ उन सपनों का?

आइये उन्हें हम साकार करें।
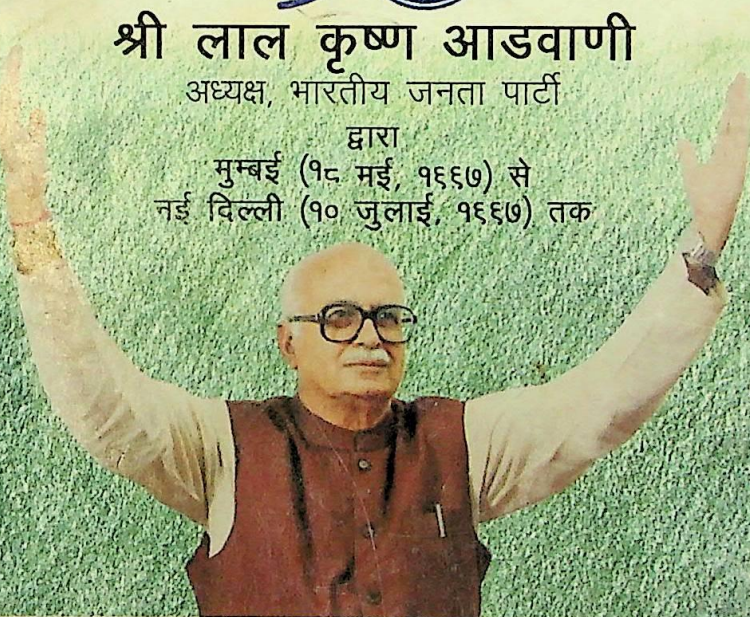
मेरे सपनों का भारत

लेखक—लालकृष्ण आडवाणी

लार्ड मैकाले ने एक बार सनकी भाव से यह कहा था कि मिडलसैक्स की एक एकड़ भूमि आदर्श राज्य के किसी प्रदेश से अधिक अच्छी है।

अडिग राजनीतिज्ञ उनकी इस उक्ति से सहमत हो सकते हैं और स्वप्नदृष्टाओं का मजाक उड़ा सकते हैं। किन्तु स्वतंत्र भारत को इस बात का अत्यधिक अहसास है कि विवेकानन्द, श्री अरविंद, टैगोर और महात्मा गांधी जैसे स्वप्नदृष्टाओं के सपनों से ही स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्र को प्रेरणा मिली और अन्ततोगत्वा इसने उन्हीं की सहायता से स्वतंत्रता प्राप्त की।

इन महान् ऋषियों ने, प्रत्येक ने अपने अननुकरणीय तरीके से अपने सपनों के भारत का—एक महान् तथा गौरवशाली भारत का—जिसे समस्त विश्व का आदर प्राप्त हो, वर्णन किया। मेरा यह मत है कि भारत के संविधान निर्माताओं ने उनके इन सपनों को संविधान की प्रस्तावना में संपुटित किया जो आज भी इस बात को इंगित करती है कि जब सभी भारतीय नागरिकों का;

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**;
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म; और उपासना की **स्वतंत्रता**;
प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त करने के लिये,
तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली **बन्धुता**
बढ़ाने के लिए।"

एक राजनीतिक सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में, मैं भविष्य के भारत के इस अलौकिक तथापि सुप्राप्य स्वप्न से अपने आपको पूर्णतया एकसात् करता हूं। मैं इसे प्राप्त करनें की कामना करता हूं।

(*दी इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया*, स्वतंत्रता दिवस विशेषांक १६८७ से)

एक अमर सभ्यता, किन्तु अब किधर ?

हिन्दुस्तान। भारत। इंडिया। इस नाम को लेते ही हमारे हृदयों में, अथवा हमारे होठों से इसके उच्चारण मात्र से हमारी नस तथा नाड़ियों में एक असाधारण विद्युत की धारा प्रवाहित होने लगती है, हमारी आत्मा में आह्लाद का कम्पन पैदा हो जाता है और हमारे उस स्रष्टा के प्रति अनायास धन्यवाद की भावना जाग उठती है जिसने हमें इस मनमोहक सौन्दर्य से परिपूर्ण एवं रहस्यमय आन्तरिक प्रयोजनयुक्त भूमि पर जन्म दिया है।

यह एक प्राचीन, शाश्वत तथा सदाबहार भूमि है जिसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में तीन सागर पूजा–अर्चना के लिये इसके चरण पखार रहे हैं, उत्तर में नगाधिराज पवित्र हिमालय पर्वत विद्यमान है, असंख्य नदियां और नाले जिसे सिंचित कर रहे हैं, जिसमें विश्व की सबसे अधिक नानाविध जातियां एक विशाल राष्ट्रीय समुदाय के रूप में वास करती हैं, यह भूभाग एक विशेष सभ्यता का जन्मस्थान बना, जहां स्रष्टा ने अपनी ही सृष्टि को चुनौती देकर नर से नरोत्तम–नर (मानव) से नारायण (भगवान) की संरचना की। हमारे सभी सन्त–महात्माओं, दार्शनिकों और समाज–सुधारकों, प्राचीनकाल के ऋषि–मुनियों से लेकर आधुनिक युग के कवियों तथा सन्त–देशभक्तों की लम्बी कतार ने अपने–अपने काल में तथा अपने–अपने विभिन्न तरीकों से इस सत्य की पुनः खोज करके उसकी फिर से पुष्टि की।

इसके इतिहास के विभिन्न चरणों में और अक्सर इसके प्रबुद्ध व्यक्तियों के जीवन में हमारे समाज ने उठकर इस चुनौती का सामना किया। भारत अपार समृद्धि, शान्ति और दृढ़संकल्प का देश था। इसका वैभव और संस्कृति विश्व के लिये ईर्ष्या के विषय थे। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि इतिहास के उत्थान–पतन के बावजूद, और बर्बर आक्रमणों और हमलों की परवाह न करते हुए, भारत ने अपना स्थान बनाये रखा। कवि मुहम्मद इकबाल ने अपनी मशहूर कविता 'हमारा देश' में लिखा **"दुनियां की अधिकांश पुरानी सभ्यताओं का नामोंनिशान मिट गया, किन्तु कुछ बात है जो बाकी दौरे जहां हमारा" उन्होंने आगे लिखा कि "कुछ बात जरूर है जिसकी वजह से हमारा देश अमर हो गया है !"** कितना सच है!

फिर भी ... हिन्दुस्तान। भारत। इंडिया। आज की हालत को देखकर एक बार फिर इस नाम का उच्चारण कीजिये और मोहभंग तथा शर्म से हमारे सिर झुक जाते हैं। यह जनसंख्या के थोड़े से लोगों को छोड़कर सबके लिये आत्मा को झुलसा देने वाली गरीबी और अभावों का देश है। एक ऐसा देश जहां शासकगण संवेदनाहीन तथा भ्रष्ट हैं तथा शासित प्रजा संज्ञाविहीन, विभक्त एवं दिशाविहीन है। एक ऐसा देश

जो राष्ट्रों के समुदाय में उद्योग, व्यापार, वित्त, विज्ञान, तकनीकी, कूटनीति, खेल और मानव विकास के सूचक हर क्षेत्र में सबसे पिछली पंक्ति में बैठा है। एक ऐसा देश जिसमें सबसे अधिक अशिक्षित, नेत्रहीन, विकलांग, रोगी, कुपोषित, वस्त्रहीन, गृहविहीन लोग हमारे इस भूमण्डल पर वास करते हैं।

यह एक ऐसा देश है जिसके शासक काश्मीर तथा पूर्वोत्तर में दीर्घकालीन तथा किसी के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चलाये जा रहे पूर्ण युद्ध को तथा देश के अन्य भागों में पाकिस्तान द्वारा प्रवर्तित आतंकवाद की फैलती हुई महामारी को स्तब्धकारी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। जहां दो प्रकार के कानून हैं : एक तो अमीरों तथा शक्तिशाली लोगों के लिए हैं और दूसरे शेष लोगों के लिये हैं। जहां काम की संस्कृति जिसे कभी आध्यात्मिक रूप देकर भगवान और मानव की सेवा समझा जाता था, अधःपतन के निम्नतम स्तरों तक पहुंच गई है। जिसके नगर और कस्बे अधिक मैले–कुचैले और भद्दे होते जा रहे हैं, यहां तक कि गांव, जहां अधिकांश असली भारत अब भी रहता है, टूटते जा रहे हैं।

संक्षेप में, एक ऐसा राष्ट्र जो इसके माने हुए प्राकृतिक, मानव सम्बन्धी तथा सभ्यता सम्बन्धी संसाधनों के बावजूद एक साथ मिलकर काम नहीं कर रहा।

क्यों? इन दुःखदायी हालातों के लिये कौन जिम्मेदार है ? हमारी थोड़ी–सी उपलब्धियां देश की असीमित सम्भावनाओं के अनुरूप क्यों नहीं हैं ? भारत अपने हाथ में आये अवसर से क्यों चूक गया जबकि भारत से कहीं अधिक छोटे देश और हमसे कम समृद्ध देश अपनी जनसंख्या के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की गारंटी देने के मूलभूत कार्य में हमसे बहुत आगे निकल गये? इनमें से बहुत से देश हमारे अपने एशियाई महाद्वीप में स्थित हैं, जिस तथ्य को ध्यान में रखकर बहुत से भविष्यवक्ताओं ने यह भविष्यवाणी की है कि २१वीं सदी एशियाई सदी कहलायेगी। परन्तु इस एशियाई सदी में भारत का स्थान कहां होगा ?

स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती

सरकारी उदासीनता एवं भाजपा का उपयुक्त उत्तर

इन प्रश्नों को पूछने के लिये शायद कोई भी समय उपयुक्त है, जो हमारे सामने मुंहबाये खड़े हैं और अन्य देशों में रहने वाले भारत के प्रशंसक और शुभचिन्तक जिन्हें पूछते हुए कभी नहीं अघाते। किन्तु इतिहास ने अब ये प्रश्न अपने आप से पूछने और विचार तथा कार्य के द्वारा उनका उत्तर देने का हमें एक अद्वितीय महत्वपूर्ण अवसर भारत की स्वतंत्रता की ५०वीं वर्षगांठ के रूप में प्रदान किया है।

१५ अगस्त, १९९६ से १५ अगस्त, १९९७ तक सम्पूर्ण वर्ष सरकारी तौर पर भारत की स्वतंत्रता का स्वर्ण जयन्ती वर्ष माना गया है। किन्तु, विधि की विडम्बना देखिये, इस इतनी महत्वपूर्ण घटना के प्रति विशेष रूप से सरकारी क्षेत्रों में उत्साह और रुचि के नितान्त अभाव के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन में, दिशा, गतिशीलता और सामूहिक जनभावना की विहीनता परिलक्षित होती है। साधारणतया एक जयन्ती

का अवसर खुशी का मौका होता है, किन्तु क्या चारों ओर कहीं कोई खुशी दिखाई देती है ? क्या कहीं कोई उत्साह का वातावरण दिखाई देता है ? नहीं।

इस प्रकार की एक युगान्तरकारी घटना को समुचित ढंग से मनाने के लिये कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करने, तथा उन्हें कार्यान्वित करने में सक्षम बनाने के लिये मुख्यतया तत्कालीन सरकार जिम्मेदार होती है। परन्तु इसके स्थान पर आज हम क्या देख रहे है ? सत्तारुढ़ संयुक्त मोर्चा और इसकी सहयोगी कांग्रेस पार्टी अपनी नग्न सत्ता की पिपासा, विचारधारा के दिवालियेपन, घोर सिद्धान्तविहीनता, एक दूसरे की पीठ में छुरा घोंपने और एक दूसरे की कब्र खोदने को अधिक उत्सुक प्रतीत होते हैं। **नई दिल्ली में इस स्वर्ण जयन्ती वर्ष के दौरान ही शासकों तथा उनके सहयोगियों द्वारा अवसरवादी तथा जोड़–तोड़ की सत्ता की राजनीति के घृणित प्रदर्शन ने इस बात को रेखांकित कर दिया है कि उन्होंने स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने वाले लोगों के सपनों के साथ किस प्रकार बुरी तरह विश्वासघात किया है।**

इसी अंधकारमय परिदृश्य से प्रेरित होकर भारतीय जनता पार्टी ने इसके जवाब में एक उपयुक्त कार्यक्रम प्रस्तुत करने का विचार किया। एक मात्र ऐसे भारतीय राजनीतिक दल के रूप में जिसके लिये राष्ट्रवाद ही उसके अस्तित्व एवं कार्यकलाप का प्राणदायक जीवन–स्रोत है भारतीय जनता पार्टी (जैसे कि पहले भारतीय जन संघ) ने राष्ट्रीय आवश्यकता की हर घड़ी में ठीक अवसर के अनुरूप कार्य करके गर्व अनुभव किया है। हमने १९६२ में चीनी आक्रमण के दौरान तथा १९६५ और १९७१ में पाकिस्तान द्वारा छेड़े गये युद्धों के समय यही किया था। हमने १९७५–७७ के आपात्काल के क्रूर शासन के दौरान यही किया था। हमने बहुत–सी प्राकृतिक विपदाओं और अन्य संकट की घड़ियों में यही किया है।

हम स्वतंत्र भारत के ५०वें वर्ष के दौरान एक बार फिर वही कर रहे हैं। **भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती के प्रति शासकीय उदासीनता का भारतीय जनता पार्टी का जवाब है स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा।**

भाजपा की जनोन्मुख राजनीति बनाम हमारे विरोधियों की जोड़–तोड़ की राजनीति

श्री लाल कृष्ण आडवाणी, अध्यक्ष, भारतीय जनता पार्टी स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा मुम्बई के अगस्त क्रान्ति मैदान से (१८ मई, १९९७ को) आरम्भ करके दिल्ली के लाल किले पर (लगभग १० जुलाई १९९७ को) समाप्त करेंगे। ५५ दिन की १५,००० किलोमीटर लम्बी यह यात्रा १६ राज्यों तथा एक संघ राज्य–क्षेत्र में से होकर गुजरेगी। इस यात्रा के दौरान, श्री आडवाणी ऐतिहासिक महत्व के अनेक स्थानों को देखेंगे।

स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा के चार प्रमुख उद्देश्य हैं :

- शहीदों तथा स्वतंत्रता सेनानियों को श्रद्धांजलि अर्पित करके और हमारे गौरवशाली स्वतंत्रता आन्दोलन के गर्वपूर्ण पृष्ठों को स्मरण करके भी देशभक्ति

की मन्द पड़ती हुई ज्वाला को पुनः प्रज्जवलित करना;

- स्वतंत्र भारत के प्रथम ५० वर्षों की सफलताओं, त्रुटियों एवं विफलताओं का लेखा–जोखा लेना;
- आज देश के समक्ष विद्यमान महत्वपूर्ण मुद्दों तथा समस्याओं पर एक गम्भीर बहस उत्प्रेरित करना; और
- स्वराज को सुराज में परिवर्तित करने के लिये विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करके राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के भारतीय जनता पार्टी के स्वप्न को प्रतिबिम्बित करना।

स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा पार्टी द्वारा एक रथ पर सड़क यात्रा के रूप में निकाला गया पांचवां राष्ट्रव्यापी जनान्दोलन है। पार्टी की पिछली चार रथ यात्रायें निम्नलिखित थीं;

- **राम रथ यात्रा :** श्री लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा सोमनाथ (२५ सितम्बर, १९९०) से समस्तीपुर (२१ अक्तूबर, १९९०) तक;
- **एकता यात्रा :** डा० मुरली मनोहर जोशी द्वारा कन्याकुमारी (११ दिसम्बर, १९९१) से श्रीनगर (२६ जनवरी, १९९२) तक;
- **जनादेश यात्रा :** श्री आडवाणी द्वारा (मैसूर से), डा. जोशी द्वारा (पोरबन्दर से), श्री कल्याण सिंह द्वारा (कलकत्ता से) और श्री भैरों सिंह शेखावत द्वारा (जम्मू से) की गई।
- **सुराज रथ यात्रा :** श्री लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा केरल में कालडी (९ मार्च, १९९६) से लखनऊ (२६ मई, १९९६) कुल ३५ दिन तक दो चरणों में की गई।

राम रथ यात्रा में हिन्दुत्व अथवा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को भारतीय राष्ट्र की अत्यावश्यक पहचान के रूप में दर्शाया गया। प्रसंगवश, इसका सम्बन्ध १९४७ के बाद के भारत के इतिहास में सबसे बड़े जनान्दोलन–अर्थात् अयोध्या में राम मन्दिर के निर्माण के लिये किये जाने वाले आन्दोलन के साथ जुड़ा हुआ था। एकता यात्रा ने जो डा० जोशी द्वारा गणतंत्र दिवस पर श्रीनगर में लाल चौक पर राष्ट्र–ध्वज फहराये जाने के साथ समाप्त हुई, राष्ट्रीय एकता के प्रति भारतीय जनता पार्टी की वचनबद्धता को प्रदर्शित किया। जनोदश यात्रा शरारतपूर्ण संविधान (८०वां संशोधन) विधेयक, १९९३ तथा लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) विधेयक, १९९३ के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिये आरम्भ की गई थी, जिन के द्वारा कांग्रेस तथा हमारे अन्य विरोधी धर्म को राजनीति से अलगं करने के बहाने भारतीय जनता पार्टी को अवैध करार देना चाहते थे। अन्तिम सुराज रथ यात्रा जिसके द्वारा नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की जन्म शताब्दी पर हमारे **स्वराज** को **सुराज में** परिवर्तित करने के संकल्प को रेखांकित किया गया।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, राष्ट्रीय एकता और सुशासन ये चार नींव के स्तम्भ हैं जिन पर भारत के स्वतंत्रता संग्राम की सर्वोत्तम विशेषताओं का निर्माण किया गया था। स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा तथा इसकी पूर्ववर्ती चार यात्राओं में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध स्वतः–स्पष्ट है। भारतीय जनता पार्टी के लिये यह अत्यधिक गर्व का विषय है कि जब अधिकांश अन्य दल अपने संकुचित चुनावी लाभ के लिये इन विशेषताओं से पीछे हट गये थे, तो भारतीय जनता पार्टी ने राष्ट्रव्यापी जनान्दोलन के द्वारा उन्हें ध्यान का केन्द्र बिन्दु बना दिया।

अब फिर हमारे विरोधी विशेष रूप से कांग्रेस और कम्युनिस्ट नकारात्मक, तोड़–फोड़ की नीति द्वारा तथा जनादेश का अपहरण करके भारतीय जनता पार्टी को सत्ता से बाहर रखने के उद्देश्य से जोड़–तोड़ की राजनीति के प्रति दयनीय मोह का प्रदर्शन कर रहे हैं। यह जून , १६६६ में कांग्रेस पार्टी के समर्थन से संयुक्त मोर्चे द्वारा सत्ता हथिया लिये जाने से स्पष्ट दिखाई देता था, यद्यपि भारतीय जनता पार्टी को लोगों ने ११वीं लोक सभा में सबसे बड़ी अकेली पार्टी के रूप में चुनकर भेजा था। दस महीने बाद एक बार फिर कांग्रेस द्वारा, जिसकी गुण्डाशक्ति के आगे संयुक्त मोर्चे ने बिना चूं–चपड़ किये घुटने टेक दिये, ब्लैकमेल की राजनीति का आश्रय लेकर चोर दरवाजे से सत्ता हथियाने में यही चीज़ दिखाई दी।

भारतीय कम्युनिस्ट : विश्वासघात की गाथा

जहां तक लोकतंत्र के मूलभूत सिद्वांतों के प्रति कम्युनिस्टों के विश्वासघात का प्रश्न है, इससे इतिहास के किसी विद्यार्थी को आश्चर्य नहीं होगा। उनकी बड़ी बड़ी बातों के बावजूद कम्युनिस्टों की भूमिका मुख्यतया, विश्वासघात और विभक्त स्वामीभक्ति की कभी खत्म न होने वाली गाथा है। पहले उन्होंने १६४१ में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान "पितृभूमि (कम्युनिस्ट–शासित सोवियत संघ पढ़िये) खतरे में" का अचानक हौआ खड़ा करके अंग्रेज शासकों के साथ मिल कर स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ विश्वासघात किया। शीघ्र ही उन्होंने राष्ट्रिकताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार संबंधी स्टालिन की अभिधारणा के अन्तर्गत तर्कसंगत बताते हुए मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की धर्मान्ध मांग का समर्थन करके वही किया। उन्होंने १६६२ में चीनी आक्रमण के समय बीजिंग का पक्ष लेकर राष्ट्रवादी शक्तियों के साथ विश्वासघात किया। आपात्काल के दौरान भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने इंदिरा गांधी के तानाशही शासन का सक्रियता से समर्थन किया, जब कि भारत की मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने इसकी तरफ से आंखे मूंद कर मौन स्वीकृति दी।

अनेक वर्षों तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और भारत की मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के आग उगलने वाले क्रांतिकारियों के बारे में यह मशहूर था कि जब कभी मास्को में वर्षा होती है तो ये लोग यहां भारत में अपने छाते खोल लेते हैं। और पूरे पांच दशक तक जब तक कि सोवियत संघ के अपने ही झूठ के पुलिंदों और विरोधाभासों के बोझ तले दब कर टुकड़े–टुकड़े नहीं हो गये, ये उनके योग्य

उत्तराधिकारी हरेक को यह उपदेश देते रहे कि भारत को अन्य सब बातों के साथ–साथ राष्ट्रीय अखंडता के मामले में भी सोवियत संघ की नकल करनी चाहिए। अब इतिहास द्वारा गलत साबित कर दिये जाने और बदनाम हो जाने के बाद भी भारतीय राजनीति के ये डायनोसौर, भारत में अपने तेजी से सिकुड़ते हुए आधार की चिंता करने की बजाय भारतीय जनता पार्टी के साथ एक "अछूत" के समान व्यवहार करने की अत्यधिक आवश्यकता के बारे में अन्य दलों को उपदेश दे रहे हैं।

यद्यपि मार्क्सवादियों, कांग्रेसियों और उनकी बहुत–सी अमैथुनी संतानों की जोड़–तोड़ की चालों का भारतीय जनता पार्टी को सीधा राजनैतिक लाभ प्राप्त होता है, किन्तु हमें भारतीय राजनीति में शिष्टाचार के इस दुखद क्षरण से प्रसन्नता नहीं होती है। लोकतंत्र एवं अन्य राष्ट्रीय मूल्यों को विकृत करने में जो होड़ लगी हुई है उसमें शामिल होने की बजाय, हम एक के बाद दूसरी रथ यात्रा के द्वारा भारतीय राजनीति में स्वच्छता लाने के लिये पुनः–पुनः लोगों के पास उनके समर्थन और प्रबुद्ध भागीदारी के लिये जाते रहे हैं। इस संबंध में महात्मा गांधी का सूक्ष्मदृष्टियुक्त यह उपदेश कि **"जब कि चौकड़ी की राजनीति अंदर से प्रदूषण फैलाने वाली होती है, जनता की राजनीति सदा ही वातावरण को शुद्ध करने वाली होती है"** हमारा मार्गदर्शन करता है।

भाजपाः भविष्य की पार्टी

भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती के दौरान –कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी इन दो बड़ी पार्टियों के व्यवहार की परस्पर तुलना कीजिये। **देश की सबसे पुरानी और कभी महान रही पार्टी आज इतनी दयनीय दशा में पहुंच गई है कि सर्वोच्चता पुनः प्राप्त करने की सभी भ्रष्ट एवं व्यर्थ कोशिशों के बाद, स्वतंत्रता आन्दोलन को मुख्य रूप से संगठित करने वाली यह गांधी जी और सरदार पटेल की पार्टी अब अपने पुनर्जीवन की संपूर्ण आशायें नेहरू 'खानदान' के पुनर्जीवन पर लगाये बैठी है।**

स्वतंत्रता के इस ५०वें वर्ष में कांग्रेस के इस पूर्ण आत्मसमर्पण के सर्वथा प्रतिकूल भारतीय जनता पार्टी का स्वतंत्र भारत के इतिहास में सड़क मार्ग से अधिक से अधिक राष्ट्रजनों से संपर्क स्थापित करने का यह सबसे लंबा जनान्दोलन करने का निर्णय है। **कांग्रेस की चेष्टा एक विनाश की ओर अग्रसर हो रही पार्टी की निराशा की आखिरी झलक है जब कि भारतीय जनता पार्टी का प्रदर्शन भविष्य की उदीयमान पार्टी के आत्मविश्वास का प्रदर्शन करता है।**

देशवासियों, भविष्य की पार्टी के रूप में भारतीय जनता पार्टी के, १९९७ की लाभप्रद स्थिति में भारत के अतीत, विशेष रूप से स्वतंत्रता आन्दोलन के महत्वपूर्ण अध्याय के बारे में क्या विचार हैं? हम ने अतीत के संबंध में जो कुछ समझा है उसे अपने भविष्य के स्वप्न तथा अभिप्रेत कार्यवाही से हम कैसे जोड़ते हैं? **स्वर्ण जयंती रथ यात्रा** के दौरान श्री आडवाणी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण से संबंधित किन मुद्दों पर अधिक बल देंगे?

इस पुस्तिका में इन प्रश्नों के उत्तर देने की कोशिश की गई है। हम ज्यों–ज्यों १५ अगस्त, १९४७ के निकट पहुंचते हैं, यह अवसर हमें गर्व और जिम्मेदारी दोनों से परिपूर्ण कर देता है। पाठकगण, तत्काल इस बात से सहमत होंगे कि भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती एक पर्व के अतिरिक्त एक ऐसा अवसर है जब जाति, धर्म, भाषा, राजनीति अथवा तात्कालिक चुनावी लाभों के संकुचित विचारों से ऊपर उठ कर ईमानदारी से आत्मनिरीक्षण करने की आवश्यकता है। अतीत में की गई भारी भूलों और भूल –चूक (विशेष रूप से भारत के विभाजन से संबंधित) को नज़रअन्दाज़ न किया जाये, नकारने अथवा तर्कसंगत बनाने की तो बात ही नहीं है। **राष्ट्रों और व्यक्तियों को यह ठीक ही चेतावनी दी गई है कि जो इतिहास को भुला देते हैं वे दोबारा वही गलतियां करते हैं।**

इसी स्वतंत्र बहस की भावना से तथा अधिक ऊंचे राष्ट्रीय उद्देश्य से भारतीय जनता पार्टी अगले कुछ पृष्ठों में भारत की अतीत को पुनः स्मरण करने तथा भारत के भविष्य के पुनर्निर्माण के बारे में कुछ तथ्यों तथा विचारों को प्रस्तुत करती है। भारतीय जनता पार्टी पर **स्वर्ण जयंती रथ यात्रा** के अवसर पर प्रकाशित इस दस्तावेज में निम्नलिखत विषय हैं:

१. **भारत की स्वतंत्रता**
   स्वयं अपने तथा मानवता के लिए इसका तात्पर्य।
२. **भारत की स्वतंत्रता**
   हमने इस की जो कीमत अदा की।
३. **विभाजन की पीड़ा**
   राष्ट्रीय महोत्सव की घड़ी में राष्ट्रीय त्रासदी।
४. **हिन्दुत्व**
   हम एक देश, एक जन, एक संस्कृति क्यों हैं।
५. **सामाजिक समरसता**
   भारत की प्रगति का मुख्य केन्द्र बिन्दु।
६. **स्वेदशी अर्थव्यवस्था**
   संस्कृति के आधार पर समृद्धि का लक्ष्य
७. **स्वदेशी शिक्षा**
   व्यक्ति–निर्माण एवं राष्ट्र–निर्माण के लिए।
८. **सुरक्षा**
   देश एवं आम आदमी की सुरक्षा
९. **शुचिता**
   'विकृत भारतीय राजनीतिज्ञ' की छवि को बदलने की आवश्यकता।
१०. **१९०१–१९१०: दिग्गजों की दशाब्दी**
   श्री लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा एक लेख

भारत की स्वतंत्रता

स्वयं अपने तथा मानवता के लिये इसका तात्पर्य

भारत जैसे प्राचीन राष्ट्र के जीवन में पचास वर्ष केवल एक झपकी के समान हैं। तथापि १५ अगस्त, १९४७ को जो कुछ हुआ वह हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक ऐतिहासिक मोड़ के समान था । एक लंबे तथा श्रमसाध्य संग्राम के पश्चात्–भारत को अंततोगत्वा स्वतंत्रता की किरण दिखाई दी और एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में एक नये रूप में इसका आविर्भाव हुआ। यह एक मोड़ भी था क्योंकि स्वतंत्रता की खुशी को प्रिय मातृभूमि के विभाजन तथा अभूतपूर्व खून–खराबे तथा उसके बाद होने वाले सामूहिक प्रव्रजन की पीड़ा ने ध्वस्त कर दिया था।

भारत के एक आधुनिक राष्ट्र के रुप में इस रक्तरंजित जन्म के बावजूद लोगों का यह आशा लगाना सही था कि एक अधिक अच्छे सामूहिक जीवन के उनके स्वप्न और उनकी आकांक्षायें पूर्ण होंगी और स्वतंत्रता आन्दोलन के वायदे निभाये जायेंगें। वह वायदा केवल भारत को विदेशी अंग्रेज शासन के जुए से राजनीतिक दृष्टि से मुक्त कराना ही नहीं था। शांति, समृद्धि तथा चहुंमुखी प्रगति से युक्त, गरीबी तथा अभावों से रहित, साम्प्रदायिक घृणा तथा अलगाववादी भावनाओं से मुक्त और दलितों, आदिवासियों, महिलाओं तथा हमारे समाज के अन्य पददलित वर्गों के प्रति अनेक अन्यायपूर्ण सामाजिक प्रथाओं से भी मुक्त राष्ट्र के पुनर्निर्माण का भी वायदा था।

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपनी सुप्रसिद्ध कविता में हमारी स्वतंत्रता आन्दोलन की प्रमुख अभिलाषा को इन शब्दों में शानदार तरिके से अभिव्यक्त किया है:

जहां मन में भय न हो और मस्तक ऊंचा उठा रहे:
जहां ज्ञान सभी बन्धनों से मुक्त हो;
जहां विश्व को घर की संकरी दीवारों से टुकड़े–टुकड़े करके बांटा न गया हो;
जहां शब्द सत्य की गहराइयों से निकलते हों;
जहां अथक प्रयास अपनी बाहों को पूर्णता की ओर फैलाता हो;
जहां तर्क की स्वच्छ धारा चेतनारहित स्वभव की नीरस रेगिस्तानी रेत में भटक न गई हो;
जहां तुम मन को निरंतर व्यापक होते हुए विचारों तथा कार्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाते चले जाते हो–
हे मेरे पिता, स्वतंत्रता के उस स्वर्ग में मेरा देश जागे।

अफसोस है, स्वतंत्रता के पूरे ५० वर्ष बाद जब हमारा देश जागा तो उसे हर तरफ निराशा और उन्माद ही दिखाई दिया।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो मध्यरात्रि की घड़ी में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने

अपने अमर भाषण में उस युगान्तरकारी क्षण के स्वरूप को किस प्रकार से बांधा है। उन्होंने संविधान सभा के सदस्यों तथा उनके साथ ही रेडियो से चिपके हुए हर्षोल्लसित राष्ट्र को ये शब्द कहे "वर्षों पहले हमने नियति के साथ मिलने का एक वायदा किया था और अब समय आ गया है जब हम अपने उस वायदे को पूरा करेंगे, पूर्ण रूप से नहीं अथवा पूरे परिमाण में नहीं, अपितु बहुत काफी हद तक। जब मध्यरात्रि का घंटा बजेगा, जब सारा विश्व सोया हुआ होगा तब भारत जागेगा और उसे नया जीवन और स्वतंत्रता मिलेगी। एक क्षण आता है, जो इतिहास में कभी-कभी ही आता है, जब हम पुराने युग से निकलकर नये युग में प्रवेश करते हैं, जब एक युग का अन्त हो जाता है, और एक राष्ट्र की आत्मा, जो वर्षों से पददलित थी, मुखरित हो उठती है ..."

अफसोस है, स्वतंत्रता के पूरे ५० वर्षों के बाद इस राष्ट्र की आत्मा आज भी पददलित है।

स्वराज के रूप में राम राज्य

उतने ही सुप्रसिद्ध गांधीजी के शब्दों में, उन्होंने स्वतंत्रता का प्रयोजन क्या होना चाहिये इसकी परिभाषा की थी: "भारत के अन्तिम पुरुष की आंखों से अन्तिम आंसू को पोंछ देना।" उन्होंने १९२४ में लिखा, "मेरे लिये 'स्वराज' का मतलब है हमारे सबसे तुच्छ देशवासी की स्वतंत्रता है। मैं भारत को केवल अंग्रेजों के जुए से ही मुक्त नहीं कराना चाहता। मैं भारत को हर प्रकार के जुए से मुक्त करा देना चाहता हूं। 'गोरे साहेब के स्थान पर काले साहेब लाने की, मेरी कोई मंशा नहीं है।"

स्वराज की इस विचारधारा का नाम उन्होंने राम राज्य रखा। "मेरी स्वराज की धारणा के बारे में कोई गलतफहमी नहीं रहनी चाहिये। इस का मतलब विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता। इस प्रकार से आपके एक छोर पर राजनीतिक स्वतंत्रता है और दूसरे छोर पर आर्थिक स्वतंत्रता, इसके दो और छोर हैं। इनमें से एक नैतिक और सामाजिक है तथा दूसरा छोर धर्म, अर्थात् इसके अत्युत्तम अर्थ में ... आइये, हम इसे स्वराज का वर्ग कहें, यदि इसका कोई भी कोण असत्य होगा तो इसकी शक्ल बिगड़ जायेगी।"

अफसोस है, आज, कांग्रेस के साढ़े-चार से अधिक दशाब्दियों के शासन के पश्चात् इसे नापना भी मुश्किल है कि भारत के स्वराज की शक्ल कितनी बिगड़ चुकी है।

रास्ते अलग-अलग, मंजिल एक

डा० बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा दलितों की सामाजिक मुक्ति के लिये चलाये गये अपने साहसी संग्राम के फलस्वरूप स्वराज के अर्थ में एक अलग ही परिप्रेक्ष्य जोड़ दिया गया। उनके संग्राम ने स्वतंत्रता आन्दोलन की मुख्यधारा से उन्हें अक्सर

बिल्कुल अलग कर दिया, किन्तु इसका सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करने से यह पता लगेगा कि उन दिनों के महान् नेताओं की मूलभूत मुक्तिदायक चिन्तायें आपस में मेल खाती थीं, यद्यपि उनके द्वारा चुने गये कार्यवाही के विशिष्ट मार्ग चाहे अलग–अलग रहे हों। वस्तुतः सिंहावलोकन करने पर अनेक महत्वपूर्ण विषयों में हमारे विश्व संबंधी विचार नेहरू के कांग्रेस की विचारों की अपेक्षा डा० अम्बेडकर के विचारों के अधिक निकट हैं।

भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के कई अन्य भी आयाम थे। यह सच है कि इसके अपने तात्कालिक भविष्य के लिये इसका एक महत्व था। किन्तु यह एशिया तथा अन्य औपनिवेशिक राष्ट्रों के साथ भी जुड़ गया था। इसके बड़े–बड़े चिन्तकों के मन में सम्पूर्ण मानवता के लिये इसका एक उच्च प्रकार की सभ्यता के रूप में भी महत्व था। इसे स्मरणीय रूप में योगी श्री अरविन्द ने स्वतंत्रता दिवस पर (जो उनका अपना जन्म–दिन भी था) १४ अगस्त, १९४७ को आकाशवाणी से प्रसारित किये गये अपने सन्देश में व्यक्त किया था :

"१५ अगस्त स्वतंत्र भारत का जन्म दिन है। यह उसके लिये एक पुराने युग के अन्त और नये युग के आरम्भ का सूचक है। परन्तु इसका न केवल हमारे लिये, अपितु एशिया तथा समस्त विश्व के लिये एक विशेष महत्व है, क्योंकि यह राष्ट्र–जगत में एक ऐसी नई शक्ति के प्रवेश का द्योतक है जिसके पास अनगिनत क्षमतायें हैं, जिसे मानवता के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भविष्य का निर्णय करने में एक महान भूमिका अदा करनी है ... क्योंकि मेरा सदा यह मत रहा है और मैंने यह कहा भी है कि भारत का उदय न केवल इसके अपने भौतिक हितों की रक्षा के लिये, विस्तार, महानता, शक्ति एवं सम्पन्नता की प्राप्ति हेतु हो रहा है–यद्यपि उसे इन सब की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये–और निश्चय ही औरों की तरह दूसरे राष्ट्रों पर धौंस जमाने के लिये नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के सहायक तथा नेता के रूप में भगवान् तथा विश्व की सेवा में भी जीवन व्यतीत करने के लिये हो रहा है।"

बहुत बाद में, अप्रैल, १९६५ में जब स्वतंत्र भारत में इस बात के काफी संकेत पहले ही दिखाई दे चुके थे कि यहां स्वतंत्रता के सच्चे अर्थों को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया है, जनसंघ के महान शिक्षक–संगठनकर्ता–नेता पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने 'मानव एकात्मवाद' की सुप्रसिद्ध अवधारणा का प्रतिपादन करके राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के भारत के स्वप्न को पुनः साकार किया। भारत में स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रकाशित होने वाले इस सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक–दार्शनिक दस्तावेज के अन्त में उन्होंने कहा :

"सार्वभौमिक ज्ञान एवं हमारी अपनी राष्ट्रीय विरासत की सहायता से हम एक ऐसे भारत का सृजन करेंगे जो अपने अतीत के सम्पूर्ण गौरव को भी मातकर देगा

और इसमें विद्यमान प्रत्येक नागरिक को अपनी क्षमताओं का कई गुना विकास करने में समर्थ होगा और सम्पूर्ण कृति के साथ एकता की भावना के द्वारा एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करेगा जो एक सम्पूर्ण मानव प्राणी से भी ऊंची होगी। यह एक ऐसी अवस्था है जब नर नारायण बन जाता है। यह हमारी संस्कृति का शाश्वत एवं सतत दैवी स्वरूप है। चौराहे पर खड़ी मानवता को यही हमारा सन्देश है। भगवानहमें इस कार्य में सफल होने के लिये शक्ति प्रदान करें।"

'सभ्यताओं के टकराव' पर छिड़ी विश्वव्यापी बहस में भारत का योगदान

हमें भारत की स्वतंत्रता के अर्थ की इन अधिक गहरी दार्शनिक अभिव्यक्तियों को स्मरण कराने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि सर्वप्रथम, ये हमारी युवा पीढ़ी तथा आगे आने वाली पीढ़ियों को भी हमारी इस राष्ट्रीय यात्रा की मंजिल एवं दिशा को जानने में सहायक होते हैं। **यदि हम केवल इस बात को जान लें कि एक राष्ट्र के रूप में हमें कहां जाना है और हमें वहां क्यों जाना है कि तब हम राजनीति, अर्थतंत्र, प्रशासन, सेवाओं, शिक्षा तथा जीवन में अपने सब नानाविध व्यक्तिगत कामों में सही कदम उठा सकते हैं।**

इसके बाद हम दूसरे कारण को लेते हैं। आज विश्व में 'सभ्यताओं के टकराव' के निर्धारित भविष्य के बारे में, जिसकी रचना हाल में अमरीकी, विद्वान सेम्युल पी. हंटिंगटन ने सुप्रसिद्ध तरीके से की है। यह बहस आवश्यक रूप से 'आधुनिकीकरण' के शब्द को समझने पर टिकी हुई है और क्या आधुनिकीकरण का अर्थ आवश्यक रूप से पाश्चात्यीकरण होना चाहिये। इस अत्यधिक महत्वपूर्ण विश्वव्यापी बहस में भारत को अपना बौद्धिक एवं व्यावहारिक योगदान करने की आवश्यकता है।

इस शताब्दी के इतिहास ने, जिसने दो विश्व युद्ध देखे हैं, दोनों की शुरुआत पश्चिम में हुई, किन्तु जिनका विनाशकारी प्रभाव सम्पूर्ण मानवता पर पड़ा बिना, किसी सन्देह के इस बात को दिखा दिया है कि पश्चिमी सभ्यता विश्व को शान्ति एवं स्वतंत्रता देने में विफल रही है। और भौतिक उन्नति एवं वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति के बावजूद एक अधिक अच्छी विश्व व्यवस्था के उद्‌घाटन के लिये मानवता की आशा को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हुई है।

यहीं पर भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का अत्यावश्यक तात्पर्य महत्वपूर्ण हो जाता है। महात्मा गांधी, गुरुदेव टैगोर, दीनदयाल उपाध्याय और योगी अरविन्द जैसे महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित मानव विकास के सार्वभौमिक –व्यापी तथा अनुभवातीत आदर्शों पर सरसरी तौर पर किये गये दृष्टिपात से था कि आगामी सौ वर्षों में भारत आधुनिकता के नये मील के पत्थर की मानवता की खोज में और इस बहस में परिणामदायक योगदान कर सकता है।

भारत की स्वतंत्रता

हमने इसकी जो कीमत अदा की

भारत की स्वतंत्रता के ५०वें वर्ष में हमारे सामने यह एक क्रूर विडम्बना ही है कि हमारे आर्थिक क्षेत्र और हमारी राजनीति में विशिष्ट दर्जा रखने वाले वर्ग को अनुपात से कहीं अधिक स्वतंत्रता के लाभ मिले–प्रायः वे इन लाभों के अधिकारी नहीं हैं–यही वह वर्ग रहा है जिसने स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास और आदर्शों की परवाह भी कम ही की है। परन्तु सच्चाई यह है कि हमें यह स्वतंत्रता आसानी से नहीं मिली थी। सभी जातियों और धर्मों तथा सभी भाषाओं और प्रांतों के असंख्य देशभक्तों ने बड़ी बहादुरी से अपना खून बहाकर और कठोर परिश्रम कर इसकी कीमत चुकाई थी। आज भी बहुत कम परिवार हैं, और निश्चित ही देश में कोई भी ऐसा गांव या शहर नहीं है जिसके निकट या दूर किसी–न–किसी व्यक्ति ने कोई–न–कोई बहादुरी का कारनामा करके न दिखाया हो और बलिदान न दिया हो।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने १४ अगस्त १९४७ को रात्रि ११ बजे संविधान सभा के सदस्यों को सम्बोधित करते हुए इन सभी की ओर से बोलते हुए कहा था :

"आज इतिहास की इस महत्वपूर्ण घड़ी में अनेक वर्षों के बाद हम देश का शासन संभाल रहे हैं, आइए, हम उस प्रभु को धन्यवाद दें जो व्यक्तियों और राष्ट्रों की नियतियों का प्रणेता है और उन सभी ज्ञात और अज्ञात पुरुषों एवं महिलाओं की सेवाओं और बलिदानों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करें जो मुस्कराते हुए सूली पर लटक गए या सीनों पर गोलियां खाईं, जिन्होंने अण्डमान की काल कोठरियों में जीते हुए मौत का अनुभव किया या भारत की जेलों में अनेक वर्षों तक सड़ते रहे, जिन्होंने अपमान का जीवन बिताने की बजाए स्वेच्छा से विदेशों में निर्वासित जीवन बिताना बेहतर समझा, जिन्होंने न केवल अपनी सारी धन–दौलत और सम्पत्ति गंवा दी, बल्कि जिन्होंने उस महान उद्देश्य की प्राप्ति में समर्पित होने के लिए अपने प्रिय संबंधियों को भी छोड़ दिया, जिसका परिणाम हम आज देख रहे हैं।"

देशभक्ति के गीतों में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की झलक

भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन सचमुच एक महान् युग था। इस युग में ज्ञान, संस्कृति, कला और साहित्य के क्षेत्रों में वास्तव में और हर तरह से चहुमुंखी नवचेतना का उदय हुआ; सभी क्षेत्रों में अलग–अलग और असंबद्ध रूप से विकास कर गौरव प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया गया, बल्कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए सेवा भाव से कार्य किया गया। उस विस्मयकारी युग में काव्य में यह भावना शायद बेहतर ढंग से प्रस्फुटित हुई है और निरन्तर आगे आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा तथा प्रबोधन की अक्षुण्ण शक्ति देती रही है।

आश्चर्य की बात है कि यद्यपि यह काव्य विभिन्न भाषाओं में लिखा गया, परन्तु हमारे राष्ट्र कवियों ने एक ही संकल्पना और दृढ़निश्चय को मुखरित किया, और वे लगभग निरन्तर ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की लम्बी परम्परा से शक्ति और लाक्षणिकता ग्रहण करते रहे।

उदाहरण के लिए हिन्दी कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी कविता 'पुष्प की अभिलाषा' में, जो उस समय स्वतंत्रता संघर्ष का राष्ट्रीय मंत्र बन गई थी, प्रार्थना की थी :

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना फेंक !
मातृभूमि पर शीष चढ़ाने, जिस पथ पर जाएं वीर अनेक !!

इसी विचार को राम प्रसाद बिस्मिल ने भी अभिव्यक्त किया है, बिस्मिल अपने शायर–मित्र और क्रान्तिकारी साथी अशफाक–उल्लाह खान के साथ १६ दिसम्बर १९२७ को ३० वर्ष की युवावस्था में फैजाबाद जेल में सूली पर चढ़ गए थे। उन्होंने निम्नलिखित विद्रोही स्वर लिखे थे, जिनसे आज भी हमारे मस्तिक में झनझनाहट पैदा हो जाती है :

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजु–ए–कातिल में है।।

यही इच्छा आजाद हिन्द फौज के नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के कवायद–गीत में भी दिखाई पड़ती है।

कदम–कदम बढ़ाए जा, खुशी के गीत गाए जा,
यह ज़िन्दगी है कौम की, तू कौम पे लुटाए जा।

कन्नड़ के ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कवि के.वी. पुट्टप्पा के 'पांचजन्य' गीत में भी इसी विचार को देखिए–

नदे मुंदे, नदे मुंदे, नुग्गी नदे मुंदे!
जग्गादेय, कूग्गादेय, हिग्गी नदे मुंदे!
नानलीवे, नीनालीवे, नम्मेलूबूगल मेले,
मोदुवीदू मोदुवीदू नवभारतादा लीलेल।

(आगे बढ़े चलो, आगे बढ़े चलो आगे चलो, और आगे बढ़ते चलो !
बिना ठहरे, बिना खफा हुए सदैव प्रफुल्लित हर्ष के साथ आगे बढ़े चलो।
मैं इस संसार से बिदा हो जाऊंगा, तुम भी बिदा हो जाओगे,
परन्तु हमारे मृत–शरीरों पर उदय होगा,
निश्चित रूप से, हमारे ऊपर नवभारत का भव्य दृश्य उदित होगा।)

यदि स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने **"तुजसाथी मरण ते जानन। तुजविना जानन ते मरण"** (अर्थात् हे मातृभूमि, तुम्हारे लिए मृत्यु को प्राप्त करने का अर्थ है जीना, और तुम्हें भूल जाने का अर्थ है मर जाना) लिखा था तो डा. गारिमेल्ला सत्यनारायण ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध इसी प्रचण्ड क्रोध की अभिव्यक्ति तेलुगु गीत 'मा कोद्दी

तेल्लदोरतनमू' में की है :

मा कोद्दी तेल्लदोरतनमू, देवा
मा कोद्दी तेल्लदोरतनमू
माप्राणालपई पोंची
—मानालू हरिंइची
मा कोद्दी तेल्लदोरतनमू

(हमें इन गोरों का राज नहीं चाहिए, हे प्रभु,
हमें इन गोरों का राज नहीं चाहिए
जिन्होंने हमारे जीवन को आहत कर दिया है और
हमारे सम्मान को लूट लिया है,
हमें इन गोरों का राज नहीं चाहिए .....)

वन्दे मातरम् : बोलियां अनेक, मंत्र एक

कौन नहीं जानता कि हमारे असंख्य देशभक्तों ने अपने होठों से कवि बंकिम चन्द्र चैटर्जी द्वारा लिखित राष्ट्रीय गीत 'वन्दे मातरम्' को गाते हुए अंग्रेजों की गोलियों और लाठियों के प्रहारों को झेला था। परन्तु देखिए, किस प्रकार यह सुब्रह्मण्यम भारती के शब्दों में बंधकर तमिल में गुंजायमान हुआ; भारती एक प्रतिभावान कवि थे जो अभाव की स्थिति में जिए और मरे, परन्तु उनके देशभक्ति के गीत आज तक देश को प्रेरणा देते आ रहे हैं :

आओ, हम 'वन्दे मातरम्' गाएं।
आओ, हम मातृभूमि की वन्दना करें।।
हम जाति और धर्म को नहीं मानते;
चाहे कोई ब्राह्मण हो या न हो,
सभी समान हैं, क्योंकि सभी इस
पावन भूमि के पुत्र हैं।
आओ, हम 'वन्दे मातरम्' गाएं।
आओ, हम मातृ भूमि की वन्दना करें।।
हम पर जो कुछ भी गुजरेगी,
वह हम सभी पर समान रूप से गुजरेगी।
यदि हम जीते हैं,
हम सभी तीस कोटि जियेंगे।
अगर हम मरते हैं,
सभी तीस कोटि मरेंगे।
आओ हम 'वंदे मातरम्' का उद्घोष करें।
आओ हम भारत माता की वंदना करें।

संयोगवश, यदि महर्षि अरविंद ने अपने क्रांतिकारी दिनों में 'वंदे मातरम' पत्र की स्थापना की थी, तो मैडम भीकाजी रुस्तम कामा' ने इसी नाम से पेरिस में देशभक्ति से ओतप्रोत पत्र का प्रकाशन शुरू किया, जिसमें उन्होंने १९०९ में लिखा: **'देशवासियों ! हमारी क्रांति पवित्र है।'**

आकांक्षाओं और उद्देश्यों की यही समानता, हमारी साझा सभ्यता की, इन्हीं मुहावरों तथा प्रतीकों की साझेदारी थी, जिसने भारतीय राष्ट्र की मानसिकता को शक्ल दी। **आजादी के इस पचासवें वर्ष में, हम उन सभी महान पुरुषों की स्मृति का अभिनन्दन करते हैं, जिनके शब्दों ने हमारे लाखों निहत्थे और सशस्त्र स्वतंत्रता सेनानियों के हाथों में तलवार का काम किया।**

प्रारंभिक सशस्त्र संघर्षों का योगदान

इसमें संदेह नहीं कि जहां महात्मा गांधी के संघर्ष का अहिंसक रास्ता विश्वभर में स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक अनोखा योगदान था, वहीं यह भी ध्यान में रखना होगा कि हमारी स्वतंत्रता की खोज का यही एकमात्र पहलु नहीं था। स्वतंत्रता के लिए तो हमारा संघर्ष तो लगभग उसी दिन से शुरू हो गया था, जब ब्रिटेन ने अपना ध्यान व्यापार से हटाकर शासन करने और लूटमार करने में लगाना शुरू कर दिया था। १८५७ से पहले अंग्रेजों के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष हुए वह भारत की स्वतंत्रता के इतिहास की लंबी कहानी का गौरवमय इतिहास है।

भाजपा १७७० के दशक में बंगाल के संन्यासी विद्रोह के उन सभी अनजान योद्धाओं, १७९० के दशक में मालाबार में केरल वर्मा (अथवा पाइचे राजा) के भीषण सशस्त्र संघर्ष, तमिलनाडु में कोट्टाबोमन तथा उसके गूंगे–बहरे भाई उमाथुरै (दोनों ही अंग्रेजों के हाथों मारे गए) के नेतृत्व में पौलिगार्स संघर्ष, १८२४–२६ में किट्टूर (कर्नाटक) में रानी चेन्नम्मा के विद्रोह, १८३९–६२ के दौरान उड़ीसा से संबलपुर में सुरेद्र साई के नेतृत्व में काफी लंबे चले विद्रोह, १८५५–५६ में बिहार में तिल्का माझी के नेतृत्व में संथाल विद्रोह तथा अन्य बीसियों विद्रोहों की स्मृति में नमन करती है।

झांसी की रानी लक्ष्मी बाई ने मंगल पांडे तक, बेगम हजरत महल से कुंवर सिंह तक–जिन्होंने १८५७ में भारत की आजादी की पहली लड़ाई में हिस्सा लिया–उन सभी देशभक्तों के परम शौर्य को हम आदर सहित श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इसी प्रकार अन्य स्मृतियों में, अंग्रेजों का आंदोलन को निर्ममता से कुचलना–विद्रोही सिपाहियों को ब्रिटिश तोपों के मुंह से बांध उनके चिथड़े उड़ा देना, या उन्हें हजारों की संख्या में सड़क के किनारे पेड़ों की टहनियों पर फांसी पर लटकाना, ताकि स्थानीय समुदायों को कठोर सबक मिले–, तथा बड़े क्षेत्रों में तबाही, आगजनी और लूट आदि के दृष्टांतों में हम साम्राज्यवाद के असली चेहरे को देख सकते हैं। अकेले अवध क्षेत्र में ही १००,००० नागरिकों सहित १,५०,००० लोग विदेशी शासकों द्वारा मार दिए गए।

फिर भी, आजादी की पहली लड़ाई हार जाने के वावजूद हिंदुस्तानियों का सशस्त्र संघर्ष जारी रहा—चाहे वो छोटा नागपुर के जंगलों में बिरसा मुंडा की बहादुरी से लड़ी गई लड़ाई के रूप में हो या महाराष्ट्र में वासुदेव बलवंत फड़के के सशस्त्र विद्रोह के रूप में, या मणिपुर में टिकेन्द्रजीत का वह विद्रोह, जिसमें उसे फांसी पर लटका दिया गया था, या फिर पंजाब में गुरु राम सिंह के नेतृत्व में नामधारी आंदोलन के रूप में। इसी कड़ी में 'ग़दर' क्रांतिकारियों का उल्लेख भी प्रासंगिक है। प़ंजाब के इन 'ग़दर' क्रांतिकारियों ने सही अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटेन के खिलाफ विद्रोह शुरु किया—कनाड़ा से जापान तक और जर्मनी से काबुल तक।

हम भारत माता के इन सभी बहादुर बेटों—बेटियों की स्मृति में नमन करते हैं। और महाराष्ट्र के उन चाफेकर बंधुओं को भी, जिन्हें अंग्रेजों ने १८६८ में फांसी पर लटका दिया था और बंगाल के अनुशीलन समिति के क्रांतिकारियों को भी कौन भुला सकता है। महान् शहीद खुदीराम बोस के प्रति हम अपनी विशेष श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जो 'फांसी के तख्ते पर सधे कदमों और प्रसन्नचित्त मुसकराहट के साथ' ११ अगस्त १६०८ को निर्भय ही कर सूली पर चढ़ गया। १७ अगस्त १६०६ को अपना जीवन न्यौछावर करने वाले मदन लाल धींगरा के ह्रदय को हिला देने वाले शब्द अपने आप में भारतीय शहीदों के आत्म—बलिदान के प्रति एक श्रद्धांजलि हैं : **'मेरा मानना है कि कोई भी देश जिसे विदेशी संगीनों की छाया में गुलाम बनाकर रखा जाता है, सदैव युद्ध की स्थिति में रहता है...मुझे गर्व है कि मुझे अपना तुच्छ जीवन देश के लिए बलिदान करने का सम्मान मिला है।'**

हम जलियांवाला बाग के नृशंस हत्याकांड के शहीदों को भी नमन करते हैं। और हम नमन करते हैं शहीद भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु, चंद्रशेखर आजाद और उनके सहयोगियों की अमर याद को, जिनके लिए 'इंकलाब जिंदाबाद' का नारा 'भारत माता की जय' का समानार्थक बन गया था।

ब्रिटिश शासकों की बर्बरता ओर क्रूरता

यह शहीदों की स्मृति तथा हमारे उन सभी पूर्वजों की स्मृति में श्रद्धांजलि होगी, जिन्होंने विदेशी शासन में अनेक प्रकार के कष्ट उठाए, यातनाएं सहीं—जो ब्रिटिश शासकों की बर्बरता और क्रूरता की परिचायक हैं। १८५७ से १६०० के बीच अनेक भीषण आकाल पड़े जिनमें लगभग ३ करोड़ लोगों की मृत्यु हो गई। इससे पूर्व, १७५७ में बंगाल—विजय से पहले अंग्रेजों द्वारा की गई धन की लूट के परिणामस्वरुप व्यापक रूप से अभाव की स्थिति में पहुंच गए और (१७६६—७०) में भीषण अकाल पड़ा, जिसमें कम—से—कम एक करोड़ लोग काल का ग्रास बने। सच तो यह है कि भारत ब्रिटिश शासकों की विध्वंसक नीतियों के परिणामस्वरुप नष्ट हुए अपने देसी उद्योगों और शिल्पकारी की तबाही से पूरी तरह नहीं उबर सका है।

हमारी पीढ़ी के लोगों, विशेषकर युवाओं, को भारत के इतिहास के इन लगभग विस्मृत पन्नों की जानकारी होनी चाहिए। इसके दो कारण हैं। एक तो यह

कि इन पन्नों से हमें पता चलता है कि किस प्रकार हमारा देश समृद्धि से विपन्नता की गोद में खिसक गया। अगर हम अपने गांवों को देखें, तो वहां अब भी इसके बहुत से चिह्न मिल जाएंगे। दूसरे, हमें इनसे यह थोड़ी सी जागरूकता मिलती है कि भारत के संपन्न वर्ग के लिए पश्चिम अपनी तमाम दिखावटी संस्कृति और आर्थिक सम्पन्नता के कारण आकर्षण का केन्द्र हो सकता है, लेकिन उसकी तमाम समृद्धि उसके उपनिवेशों के लाखों–करोड़ों असहाय लोगों के शवों पर बनी है।

नेहरू–वंश के अलावा अन्य देशभक्तों के प्रति अन्याय

यह बहुत दुखद बात है कि एक राष्ट्र के तौर पर हम १८वीं, १६वीं सदी के प्रारंभिक दौर के शहीदों और राष्ट्रीय नायकों को तेजी से भूलते जा रहे हैं। जहां तिलक और गांधी युगों के बाद की बात है, एक भिन्न प्रकार का ऐतिहासिक अन्याय किया जा रहा है। और यह सब स्वतंत्र भारत में कांग्रेस के लंबे शासन की कृपा से हुआ–स्वतंत्रता आंदोलन तथा १६४७ के बाद के इतिहास से जानबूझ कर छेड़छाड़ की जा रही है। जहां इसमें नेहरू वंश के योगदान का बढ़ा–चढ़ा कर अतिरंजित वर्णन है, वहीं अन्य दिग्गजों के योगदान को जानबूझ कर कम आंका गया है।

परिणामस्वरूप इसमें देश को दादा भाई नौरोजी लोकमान्य तिलक, शहीद भगतसिंह और उनके क्रान्तिकारी साथियों, नेताजी सुभाषचंद्र बोस और आजाद हिन्द फौज में उनके वीर सैनिकों वल्लभभाई पटेल, सावरकर, केशव बलिराम हेडगेवार (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक), डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, मदनमोहन मालवीय, के.एम. मुंशी, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, डा० राम मनोहर लोहिया, आचार्य कृपलानी, मोरारजी देसाई तथा अन्य बहुत से लोगों को स्मरण रखने में भी न्याय नहीं किया गया।

भाजपा स्वतंत्रता आंदोलन की इन दिग्गज हस्तियों को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करती है। साथ ही, अपने छोटे–बड़े मतभेदों को दरकिनार करते हुए हम ऐसी ही श्रद्धांजलि इन अन्य महान् देशभक्तों की स्मृति में अर्पित करते हैं–जिनमें जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद, खान अब्दुल गफ्फार खां (सीमांत गांधी), राजाजी, कामराज, ए.के. गोपालन तथा अन्य बहुत सी हस्तियां शामिल हैं।

आवश्यकता है: हम स्थानीय नागरिक देशभक्ति–इतिहास के मूल्यवान पन्नों को संभाल कर रखने में सजग हों

हम भारतीय विशेष रूप से अपने इतिहास और महापुरूषों को वह आदर और आभार अर्पित नहीं कर सके, जिनके वह पात्र थे। उदाहरणार्थ, हम देखें कि हमारे इतिहास के विस्तृत है अभिलेख कितना और उसकी गुणवत्ता कैसी है–यह एक प्रश्न है?शहीदों और स्वतंत्रता के नायकों के सम्मान में बनाए गए स्मारकों, समाधियों और सग्रहालयों का क्या हाल है ? स्वतंत्रता आंदोलन के संदर्भ में आदर से लिए जाने वाले चोटी के नामों (जैसे गांधीजी या नेहरू) के स्मारक–संग्रहालय तो बेशक काफी अच्छी हालत में हो सकते हैं, जबकि यहां भी अभी काफी कुछ करने की आवश्यकता है।

लेकिन हमारी सबसे बड़ी कृतघ्नता–इतिहास के उन धुंधले और अंधेरे पृष्ठों की शर्मनाक उपेक्षा से जुड़ी है, जिनमें साधारण देशभक्तों की असाधारण वीरता छिपी हुई है। मैंने पहले कहा था कि बहुत कम परिवार हैं, और कोई गांव या कस्बा देश में ऐसा है ही नहीं जिसके किसी सगे या दूर के सदस्य ने बहादुरी या बलिदान का कोई–न–कोई काम न किया हो। लेकिन कितने कस्बों और गांवों ने ऐसी सूचनाओं और धरोहरों (काम करने की जगह, रहने का स्थान, पढ़ने का स्थान, लिखित काम या कोई कलाकृति, तस्वीरें और फोटोग्राफ, निजी इस्तेमाल की महत्वपूर्ण चीजें आदि), को–संभालकर रखा है। इन्हें समुचित रूप से प्रदर्शित करने की बात तो दूर की है। ऐसे व्यक्तियें या संस्थानों के बारे में उनके पास क्या जानकारी है, जिन्होंने उनके अपने स्थानीय क्षेत्र में स्वतंत्रता संघर्ष में कोई उल्लेखनीय कार्य किया हो? इसका उत्तर बहुत बेचैन करने वाला है। आधिकारिक उपेक्षा तो इस उत्तर का एक हिस्सा है। लेकिन क्या नागरिकों द्वारा स्वयं की गई उपेक्षा को इस संदर्भ में अनदेखा किया जा सकता है? क्या यह तथ्य नहीं है कि हमारे स्वतंत्रता सेनानियों की स्मृति मात्र सड़कों और चौराहों के नामों तक सीमित रह गई है, जिससे वर्तमान पीढ़ी को कुछ हासिल नहीं होता है।

अतः **'स्वर्ण जयंती रथ यात्रा'** के इस अवसर पर भाजपा सभी से यह अपील करती है कि आप अपनी ही एक छोटी, स्थानीय क्षेत्र की योजना बनाएं जिसके तहत आप अपने गांव या कस्बे के इतिहास के अछूते, भूले–बिसरे गौरवपूर्ण क्षणों की खोज करें, उन्हें पुनर्जीवित करें और उसकी सम्हाल करें तथा उसका समुचित प्रचार करें। यह कोई मुश्किल काम नहीं है। हमारा शिक्षक समुदाय, विद्यार्थी समुदाय, व्यवसायी, अमीर किसान, व्यापारी वर्ग, गांव के बड़े–बूढ़े–सभी इस जरूरी प्रयास में अपना योगदान दे सकते हैं।

स्थानीय क्षेत्रों की योजना के लिए ऐसे कितने ही महत्वपूर्ण विचार प्रस्तावित किए जा सकते हैं : स्मारक बनाना, मौजूदा स्मारकों की साफ–सफाई और नवीकरण, स्थानीय संग्रहालय बनाना, स्मृति साहित्य का प्रकाशन, नाटकों, लेखों तथा टी वी के जरिऐ प्रेरक प्रसंगों–प्रकरणों को दोबारा साकार करना, शोध योजनाओं को प्रायोजित करना, जीवित स्वतंत्रता सेनानियों तथा इस जमाने के कलाकारों, सांस्कृतिक विभूतियों का सम्मान करना आदि।

इस प्रकार के प्रयासों के लिए एक सटीक नारा है–''वसुधैव 'कुटुम्बम' की सोचो, स्वदेश हित में कार्य करो'' क्या हमारे देशभक्त योद्धाओं ने इसी नारे पर अमल नहीं किया था ?

विभाजन की पीड़ा

राष्ट्रीय महोत्सव की घड़ी में राष्ट्रीय त्रासदी

स्वतंत्रता दिवस की पुकार

हमारे प्रिय कवि नेता श्री अटल बिहारी ने १५ अगस्त १९४७ पर एक कविता लिखी जिसमें उन्होंने इस अवसर पर दुख–मिश्रित हर्ष को चित्रित किया है।

पन्द्रह दिन का अगस्त कहता-आजांदी अभी अधूरी है ।
सपने सच होने को बाकी है, रावी की शपथ न पूरी है।।
दिन दूर नहीं खण्डित भारत को पुनः अखण्ड बनाएंगे।
गिलगित से गारो पर्वत तक आजांदी पर्व मनाएंगे।।
उस स्वर्ण दिवस के लिए आज से कमर कसें बलिदान करें।
जो पाया उसमें खो न जाएं, जो खोया उसका ध्यान करें।।

क्या १५ अगस्त केवल हर्ष और उत्सव मनाने का दिन है? भाजपा ऐसा नहीं मानती है, वस्तुतः कोई भी देशभक्त भारतीय जिसे राष्ट्रीय इतिहास की जानकारी है, ऐसा नहीं सोच सकता है। यदि हमने इस ऐतिहासिक दिवस पर विजय के साथ साथ घटी उस त्रासदी को याद नहीं रखा तो यह बहुत बड़ी भूल होगी, क्योंकि आधुनिक युग में भारत के एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म के साथ ही देश का रक्त–रंजित विभाजन भी हुआ था। वह कौन लोग थे, और कौन से तत्त्व थे, जो हमारे राष्ट्र के इतिहास में इस त्रासदी के लिए जिम्मेदार थे? ईमानदारी से और वस्तुनिष्ठतापूर्वक इस विषय पर चर्चा करना अत्यंत वांछनीय है, हालांकि **यदि भूतकाल से कोई संकेत मिलता है तो यही समझ में आता है कि भाजपा और इसकी विचारधारा के विरोधी यही दिखाने का प्रयास करेंगे कि देश विभाजन का विषय चर्चा करने योग्य नहीं है, या इसका नाम तक लेना भी अब आवश्यक नहीं है।**

किन्तु भाजपा मानती है कि यदि राष्ट्र इस विषय को भुला देता है तो इससे राष्ट्र कमजोर होगा और यह राष्ट्र के लिए घातक होगा। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि मुस्लिम लीग ने द्विराष्ट्र सिद्धांत प्रतिपादित और सुदृढ़ किया था क्योंकि मौहम्मद अली जिन्नाह तथा लीग के अन्य नेताओं ने मुसलमानों में देश के अन्य समुदायों से अलग रखने में अपना पूरा जोर लगा दिया, जिसके कारण मुसलमानों में अलग पाकिस्तान की मांग के लिए भावनात्मक उन्माद पैदा कर दिया। वस्तुतः जिन्नाह ने साफ–साफ कहा कि **मुसलमानों और हिन्दुओं के दो अलग–अलग धर्म, राष्ट्र, संस्कृतियां, परम्पराएं और प्रजातियां हैं, जिनमें कुछ भी समान नहीं है" और यह भी कि आविभक्त भारत हिन्दुओं के प्रभुत्व वाला भारत होगा जिसमें मुसलमानों को दुसरे दर्जे का नागरिक बन कर रहना पड़ेगा।"**

दो भारत हैं, एक नहीं!

३० और ४० के दशकों के स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास के पन्ने जिन्नाह और लीग के उनके सहयोगी नेताओं द्वारा गांधी जी, नेहरू और अन्य कांग्रेस नेताओं के प्रति विषवमन और निंदात्मक कथनों से भरे पड़े हैं। मौलाना आजाद उनके उपहास का विशेष लक्ष्य थे, जिन्हें वह "हिन्दू कांग्रेस में मुस्लिम शो ब्वाय" मात्र मान कर दरकिनार कर देते थे। जब कभी भी ब्रिटिश वायसराय जिन्नाह को इस बारे में पत्र लिखते थे कि भारत को क्या करना चाहिए या ब्रिटिश सरकार भारत में क्या कुछ करने की बात सोचती हैं तो उनकी तुरन्त प्रतिक्रिया होती थी: **"आप कौन से भारत की बात करते रहे हैं? आखिर दो भारत हैं, एक नहीं। एक हिन्दू भारत है, जिसका नेतृत्व कांग्रेस और गांधी के हाथों में है और दूसरा मुस्लिम भारत है, जिसका प्रतिनिधित्व सिर्फ मुस्लिम लीग करती है।"**

कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्य धारा के साथ मुस्लिम लीग की राजनीति जोर जबरदस्ती और निरन्तर असहयोग की राजनीति थी। कांग्रेस नेताओं ने, विशेष रूप से कभी भी हार न मानने वाले महात्मा गांधी ने, जो कभी कभी तो अस्वीकार्य तुष्टीकरण की हद तक चले जाते थे, चाहे जितनी सद्भावना का परिचय दिया हो, चाहे बात चीत के लिए कितनी बार आमंत्रण दिया हो, चाहे देश को विभाजन से बचाने के लिए कितने प्रयास किए हो और चाहे परस्पर मेल मिलाप तथा साथ साथ मिलजुलकर रहने के लिए कितने ही तर्क रखे हों, परन्तु लीग ने इनका प्रत्युत्तर तिरस्कारपूर्ण हठधर्मी से दिया।

बुरे से बुरा मुसलमान भी काफिर गांधी से अच्छा है

इस प्रकार के अड़ियल रूख के पीछे जो कारण थे उनमें सबसे बड़ा कारण पाकिस्तान के हिमायतियों का यह विश्वास था कि उनका धर्म "सर्वश्रेष्ठ" है और भारत में उनका सम्प्रदाय ही शासन करता रहा है। यही कारण था कि मौहम्मद अली ने, जो खिलाफत आन्दोलन में गांधी जी के सहयोगी थे (जो अपने आप में तुष्टिकरण का वीभत्स उदाहरण है) बाद में सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि **"मुसलमानों में बुरे से बुरा आदमी भी काफिर गांधी से अच्छा है।"**

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि १६ अगस्त १९४६ को मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्रवाई दिवस' मनाने का आह्वान किया था, जिसके कारण अविभक्त भारत में साम्प्रदायिक झगड़ों की ज्वाला में बेहद खूनखराबा हुआ था, जिसके बाद एक संयुक्त भारत बनाए रखने की सभी आशाएं तेजी से समाप्त हो गई थीं। लीग की नफरत और लोगों में झगडा कराने की राजनीति से कलकत्ता में अगले चार दिन तक भयंकर नर संहार होता रहा तथा इसके बाद हत्याओं का ऐसा दौर चला कि इसकी परिणति भारत के विभाजन में होकर ही समाप्त हुई जो मुस्लिम लीग और ब्रिटिश

साम्राज्यवादी दोनों ही निरन्तर चाह रहे थे। यहां यह जान लेना उपयोगी होगा कि स्वतंत्रता संघर्ष में जेल जाने, जानमाल की हानि, लोगों पर शारीरिक हमले तथा निःसन्देह शहादत के रूप में कांग्रेस तथा अन्य देश भक्त संस्थाओं की तुलना में जिन्नाह समेत मुस्लिम लीग के समर्थकों और नेताओं का संघर्ष और बलिदान कहीं कम था।

यहा यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि १६०६ में ढाका में पारित अपने पहले ही प्रस्ताव में मुस्लिम लीग ने अपने प्रमुख उद्देश्य की घोषणा कर दी थी: ''भारत के मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा की भावना को बढ़ावा देना और सरकार द्वारा उठाए गए कदमों के कारण उसके इरादों के बारे में कोई गलतफहमी पैदा होती है तो उसे दूर करना।

देश का विभाजनः एक सबक और एक चेतावनी

भाजपा में हम लोग इन दर्दनाक पन्नों का स्मरण इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इनमें हमारे लिए एक महत्त्वपूर्ण **सबक** और **चेतावनी** लिखी है। हमें सबक मिलता है कि हम यह समझ लें कि एक तरफ पाकिस्तान का ऐकाकी, असहनशील, साम्प्रदायिक और उत्पीड़नशील राष्ट्रवाद है तो दूसरी भारत का राष्ट्रवाद है, जो तरफ एक सबको साथ लेकर चलने वाला है, अहिंसक और धर्मनिरपेक्ष है, और जो सब धर्मों का आदर करता है–अतः इन दोनों में अन्तर है। हमें सबक मिलता है कि यद्यपि हमारी मदद से–हमारे सैनिकों के खून से–पाकिस्तान से अलग होकर बंगलादेश बना, फिर भी कैसे उसी बंगलादेश ने मजहबी राज्य बन कर हमारे देश के प्रति अमैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। भारतीय राष्ट्रवाद की विरासत को कायम रखने वाली एक मात्र सिद्धांतवादी भाजपा के प्रति हमारे अपने छद्म–धर्मनिरपेक्षवादी जैसा रवैया रखते हैं, वह भी हमें एक सबक देता है।

उदाहरण के लिए, क्या भूमिकाओं का उलटना एक विचित्र बात नहीं है कि हमारे विरोधी–कांग्रेसी और कम्युनिस्ट एक ही लहज़े में भाजपा की आलोचना कर रहे हैं, और वही तर्क रख रहे हैं, जिनसे जिन्नाह ने कांग्रेस की भर्त्सना की थी? यदि जिन्नाह ने कांग्रेस को ''हिन्दु साम्प्रदायिक पार्टी'' कहा था तो आज के कांग्रेसी नेता भी भाजपा के लिए वही कह रहे हैं। यदि मुस्लिम लीग ने राम राज्य और वन्दे मातरम का समर्थन करने के लिए गांधी जी की भर्त्सना की थी तो हमारे छद्म–धर्मनिरपेक्षवादी आलोचक भाजपा पर वही ''अपराध'' करने के लिए प्रहार कर रहे हैं। यदि जिन्नाह ने मौलाना आज़ाद और कांग्रेस के अन्य राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं को ''शोब्वाय'' की संज्ञा दी थी तो आज हमारे छद्म–धर्मनिपेक्षवादी भाजपा के मुस्लिम नेताओं और कार्यकर्ताओं को उपहासास्पद रूप से उसी उपाधि से अलंकृत कर रहे हैं।

अब जहां तक चेतावनी की बात है, हम इसे काश्मीर में पाकिस्तान–समर्थित अलगाववादियों की सभी अनिष्टकारी और अशुभ रूपों में देख सकते हैं। उत्तर–पूर्व,

पंजाब, केरल और तमिलनाडु में आई एस आई की पैशाचिक गतिविधियों से भी हमें यह चेतावनी मिलती है। देश के अन्य भागों में बम विस्फोटों, साम्प्रदायिक दंगों और आतंकवादियों द्वारा की जा रही हत्याओं में भी इस चेतावनी के दर्शन होते हैं। अन्त में, हमें यह चेतावनी पाकिस्तान शासकों के ''इस्लामिक'' नाभिकीय बमों का शस्त्रागार तैयार करने के अथक प्रयासों में भी दिखाई पड़ती है।

और आखिर में, यहां यह उल्लेख करना विशेष महत्त्वपूर्ण कि १९४७ में अपने लाखों देशवासियों की तरह श्री आडवाणी को भी भारत के निर्मम विभाजन से अपने गृहनगर कराची से बेघर होना पड़ा था। मुस्लिम लीग की धर्मान्धता के कारण पाकिस्तान बना, जिससे विश्व के इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर लोगों को अपना घर छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। अधिकांश लोगों द्वारा अपना देश छोड़ कर जाने का क्रम एक तरफा—अर्थात् पाकिस्तान से विभाजित भारत की तरफ—था। इसलिए जिन बेचारे लाखों असहाय लोगों को अपनी ही मातृभूमि में अचानक ही विदेशी बन जाना पड़ा, स्वाभाविक है कि स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रीय महोत्सव के इस अवसर पर उन्हें अपने व्यक्तिगत कष्टों को दुखद आएगी ही।

हिन्दुत्व

हम एक देश, एक जन, एक संस्कृति क्यों हैं!

यदि कोई व्यक्ति भारत की स्वतंत्रता के प्रथम पचास वर्षों की उपलब्धियों, विफलताओं और कमियों का आकलन करना चाहेगा तो उसके सामने निश्चित ही यह प्रश्न आएगा: हमने जितनी उपलब्धि प्राप्त की है, उससे अधिक उपलब्धि क्यों प्राप्त नहीं कर सके? कम से कम राष्ट्रीय जीवन के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में क्यों ऐसा हुआ कि, सत्तर के मध्य के दशक के बाद की घटनाएं पहले से अधिक चिंता का विषय बनी रहीं? चीन, जापान, कोरिया, ताइवान, मलेशिया और दक्षिण–पूर्व एशिया जैसे देश, जिनका १९४७ में आर्थिक विकास का स्तर हमारे बराबर था या उससे भी कम था, कैसे ५० वर्षों बाद भारत से आगे बढ़ गए।

इन मुद्दों के अलग–अलग पहलुओं के अनेक विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण उपलब्ध हैं। और निःसन्देह वे उपयोगी हैं तथा अध्ययन योग्य हैं। परन्तु एक समान, केन्द्रीभूत, सुसम्बद्ध उत्तर यह है: **विकास के सभी मोर्चों पर भारत की असफलताओं के मूल में कारण यह है कि भारत राष्ट्रवाद की प्रबल शक्ति को सक्रिय नहीं कर सका।** हम, बल्कि यों कहें कि हमारे शासकों ने राष्ट्रवाद की शस्य श्यामला भूमि में अपने विकास के सभी प्रयासों में दत्ताचित होकर जुट जाने की अनिवार्यता की उपेक्षा की। इसका कारण भ्रामकता, अज्ञानता, और प्रायः भारत की राष्ट्रीय पहचान के सच्चे स्वरूप को एक दम नकारना है। इसका कारण देश के लोगों को जोड़ने वाले और उर्जा प्रदान करने वाले उस सिद्धांत को दबा देना है, जिससे उनकी प्रतीयमान विविधताएं भी सम्यता प्रदान करने वाली अद्‌भुत शक्ति में बदल जाती हैं।

'राष्ट्रीय स्वाभिमान की उपेक्षा'

अपने 'एकात्म मानववाद' शोध–ग्रन्थ में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने "राष्ट्रीय स्वाभिमान की उपेक्षा" को हमारी सभी समस्याओं की जड़ बताया है। उन्होंने लिखा है: "यह आवश्यक है कि हम अपनी राष्ट्रीय पहचान पर चिंतन करें। बिना इस पहचान के, स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है, न ही स्वतंत्रता प्रगति और खुशहाली का साधन बन सकती है। जब तक हमें अपनी राष्ट्रीय पहचान की जानकारी नहीं है, तब तक हम अपनी सभी संभावनाओं को न तो पहचान सकते हैं और न ही उनका विकास कर सकते हैं। विदेशी शासन में इस पहचान को कुचल दिया जाता है। इसीलिए राष्ट्र स्वतंत्र होना चाहते हैं ताकि वे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप प्रगति कर सकें और अपने प्रयास में से सुख अनुभव कर सकें। प्रकृति शक्तिशाली है। प्रकृति के विरूद्ध कार्य करने या उसकी उपेक्षा करने से मुसीबतें पैदा होती हैं .... जब स्वाभाविक प्रवृत्ति की उपेक्षा की जाती है तो व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी

विभिन्न प्रकार की बुराइयों का शिकार हो जाता है। भारत के सामने जो समस्याएं खड़ी हैं, उनका मूलभूत कारण राष्ट्रीय आत्म पहचान की उपेक्षा है।''

इस सामान्य विश्लेषण के बाद दीनदयाल जी ने रोग का निदान करने पर विशिष्ट रूप से ध्यान दिया: ''**आज हमारे राष्ट्र का नेतृत्व करने और देश के काम काज में रूचि लेने वाले अधिकांश लोगों को इस मूल कारण का पता नहीं है। फलस्वरूप, सिद्धांतविहीन अवसरवादी हमारे देश की राजनीति पर छाए हैं।**''

श्री वाजपेयी का स्पष्ट वक्तव्य

भाजपा का विश्वास है कि हिन्दुत्व या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हमारी सच्ची राष्ट्रीय पहचान है। यह सर्व–व्यापी सिद्धांत है जो भारत की विविधता में एकता का निर्माण करता है, उसे सतत रूप से आगे बढ़ाता है और उसकी रक्षा करता है। यह उस अनन्त सांस्कृतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक संसाधनों का भण्डार है, जिसे देश के सहस्रों श्रमिकों और विश्व के अन्य देशों के साथ मिल कर संग्रहीत किया गया है। इसमें धर्मनिरपेक्षता अन्तर्निहित है क्योंकि बहु–धर्मी समाजों में अन्य जितनी भी विचार धाराएं प्रचलित हैं, उनमें से यही एक विचारधारा है जो **सर्व पंथ समभाव** के उच्च आदर्शों को प्रतिपादित करती है–अर्थात् सभी धर्मों और पूजा–अर्चना की सभी पद्धतियों का समान रूप से सम्मान किया जाए।

२८ मई १९९६ को लोक सभा में विश्वास मत पर बहस का उत्तर देते हुए पूर्व प्रधान मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस विषय पर हमारे दृष्टिकोण को बड़े प्रामाणिक और सारगर्भित रूप में रखा था: ''**मेरी पार्टी और मैं न केवल भारत के बहुलवाद, बहु–धर्मी, बहु–क्षेत्रीय, बहु–भाषी और बहु–जातीय स्वरूप को मानते हैं बल्कि इसमें खुशी अनुभव करते हैं।**''

बहुत वर्षों तक हमारे विरोधियों ने हिन्दुत्व और इसके वैकल्पिक सूत्र–**एक देश, एक जन, एक संस्कृति**– को ''साम्प्रदायिक'', ''फासीवाद'' कह कर आलोचना की है और निःसन्देह यह मिथ्या है। इस विषय में तथ्य क्या हैं?

भाजपा स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्यधारा की सच्ची उत्तराधिकारी है

सच यह हैः भाजपा और इससे पूर्व जनसंघ के नेता ही ऐसे लोग नहीं रहे हैं जो भारतीय राष्ट्रवाद के इस इस सूत्र को मानते हों। दरअसल केवल ऐसे लोग, जो इतिहास के तथ्यों को दबाते हैं या झुठलाते है–हमारे कम्युनिस्ट मित्र इस कला में पुराने उस्ताद हैं, इस बात से इंकार कर सकते हैं कि यही वह अवधारणा थी जिसने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्यधारा को प्रेरित, दिग्दर्शित और एक सूत्र में पिरोया। जिन महर्षियों और समाज सुधारकों ने स्वतंत्रता आन्दोलन को प्रेरित किया उनकी भी यही मान्यता थी। इस प्रकार वैदिक ऋषि–मुनियों से लेकर गौतम बुद्ध तक, आदि शंकर से योगी अरविन्द, और महात्मा गांधी से जवाहर लाल नेहरू और

यहां तक कि बाबा साहब अम्बेडकर तक सभी में अद्वितीय रूप से भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में एक समान सहमति है।

पिछले वर्ष पुणे में **'भारतीय संविधान और हमारी राष्ट्रीय एकता'** विषय पर श्री लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा दिए गए भाषण में उन्होंने इस विषय को स्पर्श किया था और आदि शंकर का उदाहरण सामने रखा था। भाजपा अध्यक्ष ने कहा थाः "आज यह लगभग अविश्वसनीय लगता है कि वह व्यक्ति, जो केवल ३२ वर्ष की आयु तक जीवित रहा, उसने लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अद्वैत का प्रचार करते हुए इस देश में एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा की और फिर भी उन्हें धर्म, दर्शन और सौंदर्य शास्त्र जैसे विषयों पर अनेक अद्‌भुत ग्रन्थ लिखने का समय मिल गया। वह केरल में कालड़ी के अपने गांव के आस पास ही अपने विचारों का प्रचार करने से संतुष्ट नहीं रहे, बल्कि उन्होंने भारत के ध्रुव दक्षिण राज्य से लेकर उत्तर में काश्मीर तक, पश्चिम में गुजरात और पूर्व में उड़ीसा तक तीर्थ यात्रा करने को अपने जीवन का मिशन बना लिया। उन्होंने देश के सभी चारों कोनों में मठ (मन्दिर और ज्ञान–केन्द्र) स्थापित किए तथा इस प्रकार भारत के अनिवार्य एकत्वभाव को और अधिक पुष्ट किया।

संयोगतः राष्ट्रीय जागृति के लिए जन अभियान के रूप में भाजपा को यात्रा आयोजित करने की प्रेरणा आदि शंकर के उदाहरण से मिली है एक पवित्र परम्परा क्रम में आधुनिकता को जोड़ने का यह एक अद्‌भुत प्रयास है।

नेहरू और टैगोर ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का समर्थन किया....

हालांकि पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भारतीय जनसंघ और उसकी विचारधारा की बार–बार अविवेकपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण आलोचना की थी, परन्तु फिर भी उनके भाषणों और लेखों में इसी विचारधारा का पोषण मिलता है। जब मैं भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पंडित जी के भाषणों को पढ़ रहा था तो मुझे १९६१ में मदुरई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सत्र में दिए गए भाषण को पढ़ कर एक सुखद आश्चर्य हुआ। एक हजार वर्षों से अधिक समय से जिस एक प्रमुख तत्त्व ने भारत को संगठित रखा है, उसका उल्लेख करते हुए भारत के प्रथम प्रधान मंत्री ने कहाः

"पिछले कई युगों से भारत तीर्थ यात्राओं का एक देश रहा है। पूरे देश में बर्फीले हिमालय की शिखरों पर बद्रीनाथ, केदारनाथ और अमरनाथ से लेकर नीचे दक्षिण में कन्याकुमारी तक ऐसे अनेक प्राचीन स्थल मिलेंगे।

"इन महान तीर्थ यात्राओं में कौन सी ऐसी विशेषता है, जिसने लोगों को दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण जाने के लिए प्रेरित किया? ***इसके पीछे एक देश और संस्कृति की भावना रही है और इस भावना ने हमें एक साथ जोड़े रखा है।*** हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कहा है कि भारत देश वह देश है जो उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में समुद्र तक फैला हुआ है।

''भारत के बारे में, जिसे लोग एक पावन भूमि मानते है, एक महान देश होने की संकल्पना युगों युगों से चली आ रही है और हम सभी को एक सूत्र में बांधे है हालांकि हमारे अलग–अलग रजवाड़े थे और हम अलग अलग भाषाएं बोलते हैं फिर भी यह **रेशमी बंधन** अनेक प्रकार से हमें बांध कर रखे है।

''श्री आडवाणी ने एक बात विशेष रूप से महसूस की कि पंडित नेहरू ने हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु मदुरई में उनके भाषण में राष्ट्रीय एकता के लिए आधार के रूप में इस देश और इसकी संस्कृति के साथ हिन्दुओं की युगों पुरानी पहचान को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। हम मानते हैं कि ऐसी कोई बात जो इस आधार को कमजोर करती है, वह राष्ट्रीय एकता को कमजोर करती है। दुर्भाग्य से छद्म धर्मनिरपेक्षता की विकृत व्याख्या और चुनावी स्वार्थ के विचार और वोट बैंक की राजनीति के कारण देश के नेताओं ने एक देश और एक जन के 'रेशमी बन्धन' की उपेक्षा कर दी, जिसका उल्लेख पं० नेहरू किया करते थे।''

गुरूदेव रविन्द्र नाथ टैगोर ने भारतीय संस्कृति की एकता और इसके हिन्दू मूलाधार पर कहीं अधिक स्पष्ट रूप से बल दिया था। 'राष्ट्रवाद' पर लिखे अपने प्रबन्ध में उन्होंने लिखा था:

''भारत सदा से ही एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था तैयार करने का तजुर्बा करने का प्रयास करता रहा है, जिसमें सभी लोग एक साथ रह सकें और साथ ही उन्हें अपने अलग अलग मत रखने की भी पूरी स्वतंत्रता रहे। यह बन्धन यथासम्भव ढीले रहे, फिर भी परिस्थितियों के अनुरूप उनमें अधिक से अधिक निकटता रहे। **यह भाव एक प्रकार से संयुक्त अमरीका के सामाजिक परिसंघ जैसा है, जिसका एक समान नाम है–'हिन्दूत्व' ।''**

.... और हां, कम्युनिस्ट अच्युत मेनन भी

हमारे कम्युनिस्ट मित्र निश्चित ही न तो स्मरण करना चाहेंगे और न स्वीकार करेंगे, परन्तु कम से कम केरल के भूतपूर्व मुख्य मंत्री स्वर्गीय सी अच्युत मैनन जैसे उनके कुछ सम्माननीय नेताओं ने भी भारत के राष्ट्रवाद के हिन्दू मूलाधार को माना था। उन्होंने एक बार लिखा था: **''ऐसा लगता है कि एक तत्व जिसने इस सांस्कृतिक एकता को बनाए रखा वह तत्व हिन्दू धर्म था।** राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने में वैदिक और उपनिषद–साहित्य और इनमें दिए गए दर्शन तथा इनसे भी अधिक पौराणिक ग्रन्थ, विशेष रूप से रामायण और महाभारत ने इसमें पर्याप्त सहायता की है।

''एक और तत्त्व जो सांस्कृतिक एकता में सहायक सिद्ध हुआ, वह था तीर्थ–यात्रा, जो प्राचीन समय से ही हिन्दुओं में बहुत लोकप्रिय थी ... हिन्दुओं में यह एक भावना थी कि वाराणसी के पवित्र नगर से लेकर उत्तर–पश्चिम में काश्मीर की अमरनाथ गुफा, उत्तर में ऋषिकेश और बद्रीनाथ, तथा दक्षिण में रामेश्वरम और

कन्याकुमारी उनके अपने देश के भाग हैं। क्या श्री शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों कोनों में चार प्रमुख मठों की स्थापना उनकी महान उपलब्धि नहीं है? **क्या श्री शंकराचार्य की विजय–यात्रा भारत की एकता का प्रतीक नहीं है?"**

.... डा० बाबा साहेब अम्बेडकर भी!

भारत के छद्म–धर्मनिरपेक्षतावादी जान बूझ कर इस तथ्य को छुपाते हैं कि डा० अम्बेडकर को, जिन्होंने १६५६ में बौद्ध धर्म में दीक्षा ली, अपनी इस दीक्षा के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अनिवार्य आदर्श से प्रेरणा मिली। उन्हें अनेक लोगों ने इस्लाम या ईसाई धर्म में परिवर्तन होने के लिए प्रलोभन दिया। उन्होंने न केवल ऐसा करने से इंकार किया, बल्कि उन्होंने बौद्ध धर्म को चुनने के लिए महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण भी दिया। **"इस्लाम या ईसाई धर्म स्वीकार करने का अर्थ भारत की सांस्कृतिक मिट्टी से नाता तोड़ना होता, जो मैं नहीं चाहता था।"**

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह एक दम साफ है कि सभी दिग्गज चिंतकों और भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं की मोटे तौर पर एक समान सम्मति है कि भारत की राष्ट्रीय पहचान किस से बनती है। हिन्दू लोकाचारों (सांस्कृतिक और सभ्यतामूलक भाव के परिप्रेक्ष्य में, न कि सीमित धार्मिक भाव के रूप में) पर भी एक सी सहमति है कि ये लोकाचार भारत की राष्ट्रीय प्रकृति और पहचान के मूल अंग हैं।

अयोध्या आन्दोलनः श्री आडवाणी द्वारा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जोरदार समर्थन।

भारत की खतरे में पड़ी राष्ट्रीय पहचान की मूल भावना का जोरदार समर्थन अयोध्या आन्दोलन के रूप में सामने आया। श्री लाल कृष्ण आडवाणी ने अपनी राम रथ यात्रा के दौरान स्पष्ट किया था– **"भाजपा के अनुसार, यह मात्र एक मन्दिर–निर्माण के लिए नहीं है। यह राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान को पुनः पुष्ट करने का स्वतंत्रता के बाद सबसे बड़ा जन आंदोलन है। यह एक पुनर्जीवित, संकल्पवान और आधुनिक भारत के लिए डायनेमो है।"**

राम रथ यात्रा के माध्यम से भाजपा भारतीय राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता के सही अर्थों पर एक जोरदार राष्ट्रीय बहस कराने में सफल हुई। श्री आडवाणी ने अयोध्या आन्दोलन के विरोधियों को इन शब्दों में चुनौती दी थीः "यदि अयोध्या विवाद मात्र एक मंन्दिर और एक मस्जिद का विवाद होता तो इतना असाध्य नहीं होता। **जो लोग बाबरी मस्जिद के पक्ष में अभियान चला रहे हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वे देश में एक मस्जिद या एक मन्दिर में से किसी एक का चुनाव करने की बात नहीं कर रहे हैं, वे बाबर के मुकाबले राम को खड़ा कर रहे हैं। जिन्नाह के दो–राष्ट्र के सिद्धांत के फलस्वरूप पाकिस्तान बना। अब समय आ गया है कि इस सिद्धांत को सदा के लिए दफना दिया जाए और यह स्वीकार**

कर लिया जाए कि बस केवल एक भारत है, और यह भी कि भारत, और इसके सभी लोग, चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, केवल राम के साथ अपनी पहचान बना सकते हैं, न कि बाबर के साथ, जो एक विदेशी आक्रान्ता था।''

'हिन्दू' शब्द से उनकी नाक भौं सिकुडती है

भाजपा ने अयोध्या आन्दोलन की शुरूआत धर्मनिरपेक्षता के सही अर्थों को जोरदार ढंग से प्रस्तुत करने के लिए की। श्री आडवाणी ने कहाः ''**भारत इसीलिए धर्मनिरपेक्ष है क्योंकि यहां अधिसंख्या में हिन्दू रहते हैं।** हमारा इतिहास और हमारी परम्परा धर्मतंत्र को स्वीकार नहीं करता। भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें उसी प्रकार हिन्दू लोकाचार में निहित हैं जिस प्रकार भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान यह उपनिवेशवाद के विरूद्ध भी था। गांधी जी ने ही राम राज्य को स्वतंत्रता आंदोलन के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया था। मुस्लिम लीग ने यह कह कर उनकी आलोचना की थी कि वे हिन्दू राज के हिमायती हैं। गांधी जी की सभाओं में राम धुन का गान या गो रक्षा पर उनका जोर देना मुस्लिम लीग को अच्छा नहीं लगता था। लीग ने अपने एक वार्षिक अधिवेशन में 'वन्देमातरम्' को 'मूर्ति पूजा' का प्रतीक कह कर इसकी भर्त्सना करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया था। **इन सब बातों से स्वतन्त्रता संघर्ष के नेताओं ने अपनी प्रेरणा के प्रमुख स्रोत के बारे में स्वयं को कभी दोषी महसूस नहीं किया था।**

५० वर्ष से भी अधिक समय पूर्व डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने इस हिन्दू विरोधी लक्षण का विशद विवरण किया थाः ''हमारे इस महान देश में भारत के बहुत से लोगों की हिन्दू शब्द से नाक भौं सिकुड़ती है।'' श्री आडवाणी ने इसी बात को निम्नांकित शब्दों में कहा था:'' दुर्भाग्य से पिछले चार दशकों से धर्मनिरपेक्षता के नाम पर कांग्रेस पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टियों, मुस्लिम लीग और कुछ अन्य पार्टियों के राजनेता चाह रहे हैं कि राष्ट्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को नकार दे। **वामपंथी विचारधारा के समर्थकों के लिए धर्म निरपेक्षता ऐसी प्रियोक्ति बन गई है, जिसके माध्यम से वे धर्म के प्रति, विशेष रूप से हिन्दुत्व के प्रति अपनी गहरी अरूचि पर पर्दा डालते हैं। इसी रवैये को भाजपा छद्म–धर्मनिरपेक्षता का नाम देती है।''**

भाजपा में हम लोगों को इस बहस के छिड़ने पर दरअसल गर्व है–और हम बड़ी तेजी से और जोर शोर से विजय की ओर बढ़ रहे हैं।

सामाजिक समरसता

भारत की एकता और का मुख्य केन्द्रबिन्दु

भारत की स्वतंत्रता की ५०वीं वर्षगांठ के अवसर पर हमारे स्वतंत्रता संग्राम के उस महत्त्पूर्ण पहलु पर भी विचार आवश्यक है जो वर्तमान राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मुद्दे से भी जुड़ा है। यह मुद्दा है **सामाजिक न्याय** और **सामाजिक एकता** के माध्यम से **सामाजिक समरसता** स्थापित करने का। भाजपा का यह दृढ़ विश्वास है कि सामाजिक न्याय का उत्कृष्ट लक्ष्य सामाजिक समरसता और सामाजिक एकता के बिना प्राप्त करना असम्भव है।

परन्तु आज वास्तविकता क्या है? आजकल सामाजिक न्याय के नाम पर बहुत सी गलत धारणाएं प्रचलित हैं जो विनाशकारी हैं और समाज में भेदभाव को बढ़ावा देती हैं। इसके फलस्वरूप, सामाजिक समरसता एवं सामाजिक एकता को गहरा धक्का पहुंचा है। भारत के विभिन्न भागों में तेजी से बढ़ते जातिवाद, जातीय विद्वेष, जातीय संघर्ष और आपसी सहयोग एवं सामूहिक कार्य की भावना की कमी में इसके दुष्परिणाम स्पष्ट दिखाई देते हैं। संभवतः इस कारण देश की चहुंमुखी प्रगति में यह सबसे बड़ी बाधा है।

मुलायम, लालू और अन्य छद्म–सामाजिक न्यायवाले

इसके लिए कौन उत्तरदायी है? उत्तर स्पष्ट है–**जिस प्रकार छद्म–धर्मनिरपेक्षवादियों ने धर्मनिरपेक्षता को क्षति पहुंचायी है, जिस प्रकार छद्म–समाजवादियों (कंम्युनिस्ट और कांग्रेसी भी) ने समता और गरीबी उन्मूलन को हानि पहुंचाई है, उसी प्रकार छद्म–सामाजिक न्याय वालों ने सामाजिक न्याय को क्षति पहुंचायी है। इन तीनों मुद्दों में, उनके निहित स्वार्थ ही मुख्य रहे हैं।**

यदि हम तटस्थ रूप से पिछले दशक के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम पाते हैं कि जिस प्रकार जातिगत राजनीति ने राज्यों पर एवं केन्द्र में भी अपना प्रभुत्व बना लिया है, वह सामाजिक न्याय वालों के, जिसके दो प्रमुख पक्षधर मुलायम सिंह यादव और लालू प्रसाद यादव हैं, आदर्शों के खोखलेपन और उनके छद्म रूप को उजागर करती है। दोनों ने भाजपा को 'साम्प्रदायिक' बताकर अपने मतदाताओं में चुनावी स्थितियों को मजबूत किया है। उनका कहना है कि भाजपा एक उच्च जाति–वर्ग की पार्टी है जो दलित और पिछड़े वर्गों की शत्रु और सामाजिक न्याय के खिलाफ है।

यहां हमें यह अनदेखी नहीं कर देनी चाहिए कि कम्युनिस्टों और अन्य वामपंथी प्रचारकों द्वारा भाजपा का विरोध करने में और हिन्दुत्व को भला बुरा कहने में उन्होंने खुलकर इनकी विचारधारा का समर्थन किया है। स्वतंत्रता आन्दोलन के

दौरान मुस्लिम लीग के प्रचार को मुखरित करते हुए कम्युनिस्ट सदैव हिन्दुत्व को एक दमनकारी, असमतावादी, कठोर और प्रतिक्रियावादी धर्म कहते चले आ रहे है। सामाजिक न्याय के लिए संघर्षों और सामाजिक सुधार के प्रयासों की या तो अनदेखी कर दी गई है या फिर उन्हें तोड़ मरोड़ कर, हिन्दुत्व परम्परा के विपरीत बताया गया है।

यह एक बहुत बड़ा और दुर्भावनापूर्ण झूठ है। दुर्भाग्यवश, नेहरू और नेहरूवादी भी कुछ हद तक इस दुष्प्रचार के शिकार हो गए। परिणामस्वरूप हिन्दू संस्कृति का वास्तविक स्वरूप और हमारा राष्ट्रत्व सत्तासीन दलों के समक्ष स्पष्ट नहीं हो सका। वैचारिक और राजनीतिक क्षरण के इस दौर में निश्चय ही लालू और मुलायम जैसे लोग ही सामने आए हैं।

सामाजिक न्याय हिन्दु संस्कृति का अभिन्न अंग है

तथ्य यह है कि बिना किसी अपवाद के, स्वतंत्रता के संघर्ष के युग में समाज–सुधारकों की सोच और गतिविधियों के मूल में हिन्दुत्व की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परम्परा किसी न किसी रूप में बनी रही। उदाहरणस्वरूप, महात्मा गांधी के सामाजिक सुधार आन्दोलन में, जो उनके 'स्वराज' आन्दोलन का एक अभिन्न अंग था, अविश्वसनीय रूप से अनेकानेक विषयों को शामिल किया गया था; इस आन्दोलन में अस्पृश्यता निर्मूलन (जो भाजपा संविधान में वर्णित पांच मुख्य आधार भूत तत्वों में से एक है) से लेकर ग्रामीण शिक्षा, नारी विकास से लेकर स्वास्थ्य तथा स्वच्छता संबंधी आंदोलन, गास्पल ऑफ ब्रेड लेबर से लेकर सर्वोदय तक के सभी क्षेत्रों को समाहित किया था। लेकिन ये सारे मुद्दे हिन्दू दर्शन और परम्परा में सन्निहित हैं जिनका समर्थन करने में गांधीजी को कभी दुख नहीं हुआ।

१६३३ में 'हरिजन' पत्र में गांधी जी ने लिखा "अस्पृश्यता भगवान और मनुष्य दोनों के प्रति एक पाप है। यह एक जहर की भांति है जो धीरे–धीरे हिन्दू परम्परा को नष्ट कर रहा है। लेकिन उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि **हिन्दू शास्त्रों में इस विषय पर अधिकारिक दृष्टि ले कुछ नहीं कहा गया। मैं यह नही मानता कि यह हमारी परम्परा में सदियों से विद्यमान हैं। मैं मानता हूं कि जब हम अपने दुर्भाग्य की चरम सीमा पर थे, तब यह बंधनकारी और विकृत 'अस्पृश्यता' की भावना हमारी परम्परा में आई होगी।** इस कुत्सित अभिशाप ने हमें ग्रसित कर लिया है और आज भी हमारे साथ है। जितनी जल्दी यह खत्म हो सके, हिन्दुत्व के लिए यह उतना ही अच्छा है और सम्भवतः मानव मात्र के लिए और भी अच्छा है।

स्वतंत्रता संग्राम के दौर में उन दिनों अन्य सभी समाज सुधारकों ने भी यही विचार व्यक्त किए; चाहे वह स्वामी विवेकानन्द हों या फिर स्वामी दयानन्द, नारायण गुरू हों या विनाबा भावे, राम मनोहर लोहिया हों या फिर आचार्य नरेन्द्र देव। यहां तक कि ज्योतिबा फूले और डॉ० अम्बेडकर ने भी इस गतिशील उदार और परम्परा के मूल्यों को अस्वीकार नहीं किया। उदाहरणार्थ, मंदिर प्रवेश आन्दोलन और अन्य

सामाजिक सुधार कार्यक्रमों पर स्वातंत्र्यवीर सावरकर के साथ डा० अम्बेडकर का सहयोग – हालांकि जिसका कम प्रचार हुआ और जिस पर कम ही चर्चा भी हुई–भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक शिक्षाप्रद अध्याय का अंग है।

भाजपा का किसी विशाल संग्रहालय का अभिरक्षक बनने का इरादा नहीं !

हमारे विपक्षी अपना विद्वेषपूर्ण दुष्प्रचार करने के लिए कितना भी झूठ क्यों न बोलें, भाजपा सुधार की इस प्रगतिशील परम्परा को बनाए रखने के लिए दृढ़संकल्प है। हिन्दुत्व, जैसा हम समझते हैं, भारत के इतिहास में प्रत्येक पक्ष का गुणगान नहीं करता है या फिर उनको पुनर्जीवित करने की बात नहीं कहता है, जैसे वह अस्पृश्यता जैसे प्रतिगामी और हानिकारक रीति–रिवाज का पक्षधर नहीं है। इसको स्पष्ट रूप से एवं दृढ़ और प्रेरणाप्रद रूप से पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने शोध 'एकात्म मानववाद' में निदेर्शित किया था।

वे लिखते हैः "हमने अपनी प्राचीन संस्कृति पर ध्यान दिया है। परन्तु हम पुरातत्त्ववेत्ता नहीं है। **हमें विशाल पुरातत्त्व–संग्रहालय का अभिरक्षक बनने की कोई इच्छा नहीं है। केवल संस्कृति की रक्षा करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, अपितु इसे पुनर्जीवित करना, गतिशील और सम–सामयिक बनाना है।** यह हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि हमारा देश इस बुनियाद पर खड़ा हो और हमारा समाज एक स्वस्थ, प्रगतिशील और उद्देश्यपूर्ण हो। **हमें अपने कई पुराने रिवाजों को छोड़ना होगा, कई रीतियों में सुधार लाना होगा जो हमारे देश की एकता और मूल्यों की रक्षा करने में सहायक हैं। हम इस प्रक्रिया में बाधा पहुंचाने वाले तत्वों को हटा कर रहेंगे।** आवश्यक नहीं है कि हम अपनी शारीरिक सीमाओं को लेकर बैठे रहें, बल्कि यदि शरीर का कोई अंग कैंसर ग्रस्त हो जाए तो उसकी शल्यचिकित्सा करना आवश्यक हो जाता है। स्वस्थ्य अंगों को काट देने की कोई आवश्यकता नहीं है। **यदि आज समाज अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों के शिकंजे में फंसा है, जिसके कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को नीचा समझने लगा है और इस प्रकार देश की अखंडता को खतरों में डालता है तो हमें इन कुरीतियों को खत्म करना ही होगा।**

भाजपा सामाजिक समरसता को शक्ति देने वाली इसी परिकल्पना को लेकर चलती है।

'जहां दूसरों ने समाज को विभाजित और टुकड़े–टुकड़े किया वहां भाजपा जोड़ने वाला महान संगठन है।'

सामाजिक समरसता का ताजा उदाहरण उत्तर प्रदेश में भाजपा का बसपा के साथ गठबंधन है। नई दिल्ली में ७ अप्रैल १९९७ को भाजपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री लाल कृष्ण आडवाणी ने कहा "उत्तर प्रदेश भाजपा–बसपा गठबंधन में दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। प्रथम, पिछले अक्टूबर में उ० प्र० विधान सभा में मिले जनादेश को इसने साकार रूप दिया है। दूसरी विशेषता यह है कि इससे **सामाजिक समरसता** को कहीं अधिक ज्यादा बढ़ावा मिला है। इसने यह प्रदर्शित कर दिया है कि हिन्दु समाज में तथा कथित उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच कोई वास्तविक विरोध नहीं है। हिन्दु समाज सुधार में इस संदेश की महत्ता को सम्पूर्ण हिन्दु समाज में और विशेष रूप से उत्तर भारत के राज्यों में अतिरंजित नहीं कहा जा सकता है। मैं सम्पूर्ण देश में पार्टी कार्यकर्त्ताओं से आग्रह करूंगा कि वे सामाजिक समरसता के संदेश को लोगों तक पहुंचाने और इसे सुदृढ़ करने में पूरी तरह जुट जाएं।"

इसे स्पष्ट करते हुए श्री आडवाणी ने आगे कहा "ऐसी ही सामाजिक विशेषता पंजाब की नवीनतम राजनीतिक गतिविधियों में भी दृष्टिगोचर है। अकाली दल–भाजपा केवल चुनावी विजय प्राप्त करने के लिए दो राजनीतिक दलों का गठबंधन मात्र नहीं है। अपितु पाकिस्तान द्वारा चलाए गए आतंकवाद और उसके दुःखदायी परिणाम के परिप्रेक्ष्य में, यह गठबंधन हिन्दु–सिख एकता के मूलभूत और अटूट संबंध की ओर संकेत करता है। अकाली दल–भाजपा गठबंधन से दुष्प्रचार के एक कुचक्र का अंत हो गया है कि भाजपा भारत में बहुधर्मवादी चरित्र के लिए खतरा है।

"पंजाब और उत्तर प्रदेश दोनो ही स्थानों पर, भाजपा बाहर से थोपी गई अस्पृश्यता की बेड़ियों को काट कर मुक्त होने में सफल हुई है क्योंकि भाजपा एक लचीली राजनीतिक रणनीति का आधार लेकर उसके अन्दर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण और सामाजिक सुधार की भावना को सामने रखने में सफल हुई है। अन्य **राजनीतिक विचारधाराओं और संगठनों ने भारतीय समाज को विभाजित और टुकड़े–टुकड़े किया है।** आइए, हम भाजपा को समाज को जोड़ने वाला एक महान संगठन बनाएं।"

स्वदेशी अर्थ–व्यवस्था

संस्कृति के आधार पर समृद्धि का लक्ष्य

स्वतंत्र भारत के पहले पचास वर्षों ने शहीदों, स्वतंत्रता सेनानियों तथा उस जमाने के लाखों साधारण लोगों के बहुत से संजोए हुए सपने चकनाचूर होते हुए देखे हैं। लेकिन स्वतंत्रता की इस स्वर्ण जयंती के अवसर पर देश को गरीबी के अभिशाप से मुक्ति दिलाने के स्वप्न के मलबे के अलावा किसी अन्य स्वप्न का मलबा इतनी स्पष्टता से व्यापक रूप से दिखाई नहीं देता। ऐसा हो भी क्यों नहीं, जन–जन की गरीबी, हमारे गांवों की बरबादी तथा हमारे स्वदेशी आर्थिक आधार का विनाश–१६४७ में उपनिवेशवादी शासकों का सबसे बड़ा यही विशिष्ट "उपहार" था। हमारे कांग्रेसी, शासक भी, लगता है, इस विशेष "उपहार" को बहुत पसन्द करते हैं–क्योंकि इसे उन्होंने पिछले पाँच दशकों में काफी अच्छी तरह सम्भाल कर रखा है।

क्या यह राष्ट्रीय शर्म की बात नहीं कि जब देश का प्रधानमंत्री १५ अगस्त, १६६७ को लाल किले की प्राचीर पर तिरंगा फहराता है देश की लगभग आधी आबादी उस दिन या तो भूखी रहेगी या कुपोषित होगी ? उल्लेखनीय है कि पचास साल पहले, आजादी के उस "मध्यरात्रि के क्षणों" में आधी रात को जब हमारे प्रथम प्रधानमंत्री ने यह चिरस्मरणीय स्वप्न देखा था कि जब भारत जागेगा तो उसे एक नया जीवन और आजादी मिलेगी ?"

इस मोर्चे पर हम कितनी अधिक मात्रा में असफल रहे हैं उसका वर्णन न तो शब्दों में किया जा सकता है और न आंकड़ों में। लेकिन फिर भी आइए, हम कुछ शिक्षाप्रद आंकड़े देखते हैं। अप्रैल, १६६७ में कन्फेडरेशन ऑफ इण्डियन इन्डस्ट्री के वार्षिक सत्र में श्री लालकृष्ण आडवाणी ने 'द इम्पेरेटिव्स फार इण्डियाज ऑलराउण्ड इकानामिक डेवेलपमैन्ट विद स्पैसेफिक थ्रस्ट आन पावर्टी इरेडिकेशन' (गरीबी उन्मूलन पर विशेष रूप से बल देकर भारत के चहुंमुखी आर्थिक विकास के लिए अपरिहार्यतायें) शीर्षक से अपने उद्‌घाटन भाषण में इस मुद्दे को परिप्रेक्ष्य में रखा था। मानव विकास सूचकांक के विश्व पैमाने पर भारत को १३५वां स्थान दिया गया है, जो कोरिया, अर्जेन्टीना, मलेशिया, मिस्र, चीन तथा श्रीलंका से भी काफी नीचे है। मानव विकास सूचकांक, जो संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा तैयार किया जाता है, तीन महत्वपूर्ण मापदण्डों दीर्घायु, ज्ञान, तथा आय का औसत है। सबसे खराब बात तो यह है कि १६७० में भारत का स्थान ८२वां था। यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इन २५ वर्षों में भारत का सकल घरेलू उत्पाद भले ही बढ़ा हो, और पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ा हो, लेकिन इसके फलस्वरुप हमारे जन–सारधारण का उसी अनुपात में विकास नहीं हुआ है।

एशिया का नया गरीब आदमी : भारत

यदि हम अपने महाद्वीप के कई 'एशियाई शेरों' की उपलब्धियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो, विकासात्मक मोर्चे पर भारत की असफलता सबसे ज्यादा नजर आती है–विशेषकर पिछले कुछ दशकों में। एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धन सलाहकार कम्पनी 'अर्नेस्ट एण्ड यंग' ने हाल ही में एशिया–प्रशान्त क्षेत्र के १४ देशों की आर्थिक प्रगति का एक तुलनात्मक अध्ययन किया था और १९९७–२००७ के दशक की भविष्यवाणी की थी। उसमें उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि "भारत एशिया का नया गरीब आदमी" बन सकता है।

मिसाल के तौर पर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो भारत का प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद २९५ डालर (१९६०–९५ के दौरान सकल घरेलू उत्पाद की विकास–दर ४.५ प्रतिशत वार्षिक) रहा, जबकि चीन का (५२० डालर/११.८ प्रतिशत); थाईलैंड का (२,७४४ डालर/८.३ प्रतिशत); ताइवान का १२,४४० डालर/६.६ प्रतिशत); मलेशिया का (३९१४ डालर/८.८ प्रतिशत); दक्षिण कोरिया का (१०,१५० डालर/७.५ प्रतिशत); जापान का (३६,००० डालर/१.३ प्रतिशत) रहा है। यहां तक कि युद्ध की विभीषिका में लुटा–पिटा छोटा–सा देश वियतनाम भी अपने विकास के आंकड़ों पर गर्व कर सकता है–३१२ डालर/८.८ प्रतिशत।

यह तथ्य ध्यान में रखना होगा कि उपरोक्त देशों के मुकाबले भारत में गरीब–अमीर के बीच खाई अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी हुई है। प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद औसत आंकड़ों में है, इसका अर्थ यह है कि असल में भारत में गरीबी की हालत ज्यादा बुरी है, जैसा कि २९५ डालर (या १०,५०० रु० वार्षिक) के आंकड़े से पता लगता है। विश्व–विख्यात अर्थशास्त्री प्रो० अमर्त्य सेन तथा जीन ड्रेज़े द्वारा किए गए अध्ययनों के अनुसार कुछ भारतीय राज्यों में गरीब की हालत जायर तथा उप–महाद्वीप सहारा के अन्य अफ्रीकी देशों के गरीब से भी बदतर है।

न पूंजीवाद, न साम्यवाद, बल्कि एकात्म मानववाद !

ऐसी स्थिति क्यों बनी? और हम इससे कैसे उबर सकते हैं और विकास के एक ऐसे नए परिक्रमा–पथ में प्रवेश करें, जिससे हमारे जन–जन में सम्पन्नता आए तथा विश्व समुदाय में हमारी अस्मिता बढ़े? भाजपा अपने सभी प्रिय देशवासियों को आमंत्रण देती है, विशेषकर शिक्षितों और प्रभावशाली वर्ग को, कि वे इस ज्वलंत प्रश्न पर गंभीरता से बहस करें।

हमारा मानना है कि कांग्रेसी शासक देश को इस दयनीय स्थिति में पहुंचाने के लिए अनिवार्य रूप से दोषी हैं, क्योंकि उन्होंने हमारी वे नीतियां और कार्यक्रम नहीं अपनाए जो हमारे राष्ट्रीय लोकाचार से गहरे जुड़े हैं और जो हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हैं। कांग्रेसी शासक पहले 'मास्को मॉडल' से प्रभावित रहे

और फिर अमेरिका–निर्दिष्ट वैश्वीकरण के 'वाशिंगटन मॉडल' से। उन्होंने किसी प्रकार का 'स्वदेशी मॉडल' विकसित करने की कोशिश नहीं की, हालांकि 'स्वदेशी' की अवधारणा भारत के 'स्वराज' की कल्पना का अटूट हिस्सा थी, जैसा कि गांधी जी तथा अन्य बहुत से महापुरूषों ने सोचा था।

स्वतंत्रता के बाद हमारे पश्चिमी रंग में रंगे संभ्रांत शासकों (मास्को प्रभावित भी और वाशिंगटन प्रभावित भी) की यह धारणा रही है कि 'स्वदेशी' तो विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का नारा मात्र था, जो ब्रिटिश–विरोधी आंदोलन के दौरान ही उपयोगी था, लेकिन अब स्वतंत्र भारत में उसका कोई अर्थ नहीं रह गया है। यह धारणा, कि 'स्वदेशी' आर्थिक विकास की राष्ट्र की मिट्टी से जुड़ी एक पवित्र अवधारणा है, जो हमारे पुरातन मूल्यों और आधुनिकता में सामंजस्य पैदा करती है, और यह कि यह भौतिक **समृद्धि** तथा **सांस्कृतिक** प्रगति को सुनिश्चित करती है–पूरी तरह अविश्वास और उपहास का पात्र बना दी गई।

'स्वदेशी' अर्थतंत्र क्या है और यह उन दूसरी व्यवस्थाओं से किस प्रकार भिन्न है जिन्होंने भारतीय विचारकों और नीति निर्धारकों को प्रभावित किया? इस संदर्भ में स्व० पं० दीनदयाल उपाध्याय के विचार ज्ञानवर्धक हैं: "हम न तो पूंजीवाद चाहते हैं, न समाजवाद (चाहे वह मार्क्सवादी हो या कोई अन्य विदेशी ब्रांड का)। हमारा लक्ष्य तो 'मानव', 'एकात्म मानव' की प्रगति और खुशहाली है..... ये दोनों व्यवस्थाएं, पूंजीवाद और साम्यवाद–एकात्म मानव, उसके सच्चे और संपूर्ण व्यक्तित्व और उसकी आकांक्षाओं को समझने में विफल रही हैं। एक तो इस मानव को ऐसे स्वार्थी आदमी के सिवा कुछ नहीं मानता, जो पैसे के पीछे भाग रहा है, उसका एक ही कानून है, जबरदस्त प्रतिद्वंद्विता का कानून अर्थात् सारांश में जंगल का कानून; जबकि दूसरा उसे सख्त नियमों से बंधा, बिना बताए अपने से कुछ भी करने में असमर्थ तथा समूची आयोजना–पद्धति में उसे निहायत महत्वहीन, निर्जीव, दुर्बल ढक्कन मात्र मानता है। लिहाजा, दोनों ही का परिणाम मानव का अमानवीकरण है।"

उन्होंने स्वदेशी अर्थ–व्यवस्था के उद्देश्यों की व्याख्या इस प्रकार की:

१. प्रत्येक व्यक्ति को रहन–सहन के न्यूनतम स्तर का आश्वासन तथा राष्ट्र की प्रतिरक्षा की तैयारी।

२. रहन–सहन के न्यूनतम स्तर में वृद्धि, जिससे व्यक्ति तथा राष्ट्र इतने साधन–संपन्न हो जाएं कि वे अपनी चिति (प्रकृति) के आधार पर विश्व–प्रगति में अपना योगदान दे सकें।

३. प्रत्येक स्वस्थ, काम करने में सक्षम शरीर वाले नागरिक को एक सार्थक रोजगार देना, ताकि उपयुक्त दोनों लक्ष्य प्राप्त किए जा सकें और साथ ही प्राकृतिक संसाधनों के अनापशनाप इस्तेमाल और बरबादी को रोकना।

४. ऐसी मशीनें विकसित करना, जो भारतीय परिस्थितियों (भारतीय टैक्नालाजी)

के अनुरूप हों, जिनके निर्माण में उपलब्धता तथा उत्पादन के विभिन्न पहलुओं को नजरअन्दाज न किया गया हो।

५. यह व्यवस्था मनुष्य की, व्यक्ति की अवमानना नहीं करेगी, बल्कि उसकी सहायक होनी चाहिए। इससे हमारी संस्कृति तथा अन्य जीवन मूल्यों की रक्षा होनी चाहिए। यह एक ऐसी आवश्यकता है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। और यदि होती है, तो एक बड़ा जोखिम उठाने वाली बात होगी।

६. विभिन्न उद्योगों की मिल्कियत—(चाहे वह सरकारी हों या निजी या किसी अन्य रूप में)—का बंटवारा बुद्धिमत्तापूर्ण तथा व्यावहारिक आधार पर होना चाहिए।

क्या ये लक्ष्य हमारे शासकों की योजना, नीतियों तथा व्यावहारिक गतिविधियों को निर्देशित करते हैं? और क्या हमारे राजनीतिक नेतृत्व ने यह सुनिश्चित किया कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र—दोनों और सम्पूर्ण देश एक इकाई के रूप में, इन लक्ष्यों को पाने में सहायता देता? नहीं! जब हमारी आर्थिक सोच राष्ट्रीय संस्कृतिविहीन हो तो ऐसे में उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक आर्थिक गतिविधियों और नीतियों—दोनों की सार्थकता खत्म हो जाती है। स्वाभाविक है कि निर्णय लेने वालों ने एक ऐसी पूर्वाग्रहयुक्त विचारधारा/दृष्टिकोण अपना लिया, जिसका मानना था कि भारत तब तक प्रगति नहीं कर सकता, जब तक हम विदेशी आदर्श, विदेशी विचार, विदेशी सहायता, विदेशी टैक्नालाजी और अब—विदेशी निवेश—नहीं अपनाते।

पचास वर्षों में भारतः कुछ के लिए अमेरिकी संपन्नता, शेष के लिए अफ्रीका जैसी निर्धनता

वास्तव में प्रगति की अवधारणा पूरी तरह विकृत हो गई जिसका अर्थ था समाज की आवश्यकताओं की परवाह किये बिना व्यक्ति की समृद्धि, धन इकट्ठा करने के तौर—तरीकों की जानते—बूझते अवमानना, समृद्धों और शक्तिशालियों द्वारा स्व—विवर्धन, पाश्चात्य उपभोक्तावाद की संस्कृति के प्रति ललक तथा गरीबों की दयनीय स्थितियों की अवहेलना। अतः आश्चर्य नहीं कि प्रगति की ऐसी सोच वाले संपन्न उच्च शासक वर्ग ने स्वतंत्रता के ५०वें वर्ष में एक ऐसे भारत का निर्माण किया जिसमें कुछ के लिए तो अमेरिका की सम्पन्नता और अधिकांश के लिए अफ्रीका जैसी निर्धनता मिली।

क्या ऐसे भटके उच्चवर्ग के दिल और दिमाग में उस परिवर्तनवादी, गरीबोन्मुख देशभक्ति के लिए कोई स्थान है—जिसकी मांग स्वामी विवेकानन्द ने की थी ?—**''क्या आप महसूस करते हैं कि आज लाखों लोग भूखे मर रहे हैं, और लाखों लोग सदियों से भूखे मर रहे हैं? क्या आप महसूस करते हैं कि अज्ञानता धरती पर काले बादल की तरह छा गई है ?...क्या इससे आप बेचैन होते हैं ? क्या इससे आपकी नींद उड़ जाती है ? देशभक्त होने की दिशा में यही पहला कदम है।''**

भाजपा का पहले राष्ट्र तथा पहले आम आदमी की परिदृष्टि

सी आई आई के सम्मेलन में श्री आडवाणी द्वारा व्यक्त किए गए विचार यहां प्रासंगिक हैं। चुनिंदा भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'आर्थिक प्रगति को गतिमान बनाने के हमारे प्रयत्नों की पहली आवश्यकता प्रभावशाली वर्ग के रवैये/दृष्टिकोण में परिवर्तन की है–जिसमें सरकार, राजनीतिक वर्ग, प्रशासन, मीडिया और सबसे पहले व्यापारी वर्ग शामिल है। हम सब को दृष्टिकोणात्मक स्तर पर–वास्तव में जिससे तात्पर्य सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तौर पर–अपनी सोच और प्रतिबद्धताओं में परिवर्तन लाना होगा। हम जो भी कर रहे हों और किसी भी व्यवसाय में हों, स्वयं से यह पूछना चाहिएः इससे राष्ट्र को क्या लाभ हो सकता है? इससे आम आदमी को क्या लाभ हो सकता है?

''एक बार हर कार्य के लिए जब हम **'पहले राष्ट्र और पहले आम आदमी''** वाले दृष्टिकोण की कसौटी बना लेंगे, तब हम इसे अपने सभी विचारों और कार्यों के आदि और अंत का बिन्दु बना लेंगे, तब ऊंची और गतिमान आर्थिक विकास–दर का लक्ष्य प्राप्त करने की शेष अनिवार्यताएं अपने आप हमारी पकड़ में होंगी। एक बार जब यह दृढ़ निश्चयी, हितवादी और समझौता न करने वाली राष्ट्रीयता हमारे नीति संरूपण और कार्यान्वयन का निर्देशक प्रकाश–स्तम्भ बन जाता है, तो विशेष कार्यों तथा विचार के क्षेत्र में शेष सभी अंतर गौण, विरोधरहित तथा हमारे प्रजातंत्र में सहजता से पारगम्य बन जाएंगे।''

महात्मा गांधी की चेतावनीः स्वदेशी को अंध–श्रद्धा की वस्तु न बनाएं

यहां इस बात पर बल देना आवश्यक है कि 'स्वदेशी' एक गतिशील अवधारणा है, न कि मात्र सिद्धांतवादी और पृथकतावादी अवधारणा। इसे स्वयं गांधी जी ने बहुत साफ शब्दों में स्पष्ट किया था।'' किसी भी अच्छी वस्तु की तरह 'स्वदेशी' का भाव भी मृतप्रायः हो सकता है, यदि उसे मात्र अंध–श्रद्धा की वस्तु बना दिया जाए। यही वो खतरा है, जिससे बचना चाहिए। सिर्फ इस आधार पर विदेशी निर्माताओं का वहिष्कार करना कि वे विदेशी हैं, और देश में ऐसे निर्माताओं को प्रोत्साहन की खातिर समय और धन नष्ट करना एक आपराधिक मूर्खता होने के साथ–साथ स्वदेशी की भावना को नकारना होगा।''

महात्मा जी ने यह भी कहा थाः **''मैं अपने घर के चारों तरफ दीवारें खड़ी करना नहीं चाहता, और न खिड़कियां बंद करना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि मेरे घर में सभी देशों की संस्कृति की हवा यथासंभव उन्मुक्त बहती रहे, लेकिन मैं अपने पैर उखाड़ने की इजाजत किसी को नहीं दूंगा।''**

अतः 'स्वदेशी' के लिए भारतीय जनता पार्टी की वकालत का अर्थ यह नहीं कि हम उदारीकरण या वैश्वीकरण के विरूद्ध हैं। इसका अर्थ सिर्फ यही है कि भारत को ऐसे आंतरिक और वाह्य आर्थिक सुधारों वाली नीतियां अपनानी चाहिएं, जो राष्ट्र

के हित में हों। और उन नीतियों को अस्वीकार कर देना चाहिए जो हमारे राष्ट्रीय हित और संस्कृति के लिए हानिकारक हों। श्री आडवाणी ने भारतीय व्यापार समुदाय को आश्वस्त करते हुए कहा कि "जहां तक आंतरिक उदारीकरण का सवाल है, हम इसे और भी उत्साह से और व्यापक स्तर पर जारी रखेंगे। "**पर उदारीकरण के एक ही पहलू को पलटने के लिए हम कृतसंकल्प हैं—और उसे हम पूरी तरह और व्यापक स्तर पर करेंगे—वह है भ्रष्टाचार और घोटालों की संस्कृति। यह ऐसी संस्कृति है, जिससे व्यापारी समुदाय और राजनीतिक वर्ग की समग्र रूप से बहुत बदनामी हुई है। निस्सन्देह भारत के आर्थिक, राजनैतिक तथा प्रशासनिक जीवन को घोटालों के इस अभिशाप से मुक्त करने के हमारे दृढ़ निश्चय से हमें कोई नहीं डिगा सकता।"**

फिर वाह्य उदारीकरण के बारे में भाजपा का दृष्टिकोण क्या होगा? इस प्रश्न के संदर्भ में श्री आडवाणी कहते हैं कि "यह भाजपा की सुविचारित धारणा है कि विदेशी पूंजी—चाहे वह वित्तीय सहायता के रूप में हो, या तकनालाजी अथवा प्रबंधकीय/विपणन विशेषज्ञता के रूप में—अधिक से अधिक पूरक और अनुपूरक भूमिका अदा कर सकती है। मुख्य प्रयत्न, और इच्छा तथा संसाधनों को जुटाने का मुख्य काम हमें अपने अंदर से ही करना होगा। जो लोग यह मानते हैं कि राष्ट्र के पूनर्निर्माण के लिए इस प्रकार के आंतरिक और देशज प्रयत्न करने में भारत अक्षम है, वे पराभववादी, पलायनवादी तथा सबसे बदतर मामलों में बिकी हुई आत्माएं हैं।" आज भाजपा भारत की एकमात्र पार्टी है, जो स्वदेशी की पक्षधर है। ऐसा करने में हम गर्व अनुभव करते हैं, क्योंकि इससे यह एक बार फिर सिद्ध हो जाता है कि स्वतंत्रता आंदोलन की गौरवमयी परंपरा के हम ही सच्चे उत्तराधिकारी हैं। इसके विपरीत कांग्रेस ने एक बड़े विश्वासघातक की तरह मौन साध रखा है। स्वतंत्रता आंदोलन के अन्य महत्त्वपूर्ण आदर्शों के संदर्भ की ही तर्ज पर कांग्रेस ने स्वदेशी को भी निरर्थक मान कर फेंक दिया है।

हमारा मानना है कि स्वदेशी न सिर्फ भारत के लिए हितकर है, बल्कि आर्थिक विकास के एक मानवतावादी मार्ग की वैकल्पिक तलाश में विश्व को भारत की एक अद्वितीय देन होगी। प्यारे देशवासियों, हमें विश्वास है कि इसे अपनाने और इसका दृढ़तापूर्वक कार्यान्वयन करने से थोड़े ही समय में भारत शक्तिशाली, समृद्ध, स्वाभिमानी और गरीबी से मुक्त राष्ट्र बन जाएगा। इस प्रकार का भारत आधुनिक होते हुए भी, हमारी सांस्कृतिक मिट्टी से मजबूती से गर्व के साथ जुड़ा हुआ होगा। स्वदेशी—मात्र स्वदेशी ही—भारत को विश्व—समुदाय में वह आदर दिलाएगा, जो उसे विश्व की आबादी के पांचवें हिस्से को अपने में समोने के बावजूद अभी नहीं मिल सका है।

स्वदेशी शिक्षा

व्यक्ति निर्माण और राष्ट्र निर्माण के लिए

जब हम अगली शताब्दी के लिए और अगले एक हजार वर्ष के लिए नए भारत के निर्माण के लिये विभिन्न क्षेत्रों का निरीक्षण करते हैं, जहां ध्यान देना है या जिसमें कार्य करने की नितांत आवश्यकता है और जो स्वतंत्रता संग्राम का भी एक महत्त्वपूर्ण चिन्ता का विषय रहा है, तब महत्त्वपूर्ण विषयों में एक–संभवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण–शिक्षा का नाम आता है। स्वतंत्रता संग्राम का कोई भी बड़ा या छोटा, किसी भी विचारधारा का ऐसा नेता नहीं था जिसने शिक्षा के विकास पर बल न दिया हो और जिन्होंने शिक्षा को राष्ट्र के देशभक्तिपूर्ण कार्यों का महत्त्वपूर्ण अंग न माना हो।

हमारे स्वतंत्रता सेनानी बड़े शिक्षाविद् भी थे

महात्मा गांधी ने नयी तालीम (नई शिक्षा पद्धति) के साथ परीक्षण किया था, जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण शिक्षा, मातृभाषा में शिक्षा, शारीरिक श्रम के महत्व और नैतिक शिक्षा द्वारा चरित्र–निर्माण पर बल दिया था।

डॉ० अम्बेडकर ने सदियों से शिक्षा से वंचित दलित और पीड़ित वर्गों की दशा से क्षुब्ध होकर अपने अनुयायियों का एक उत्तेजक आह्वान किया था। **शिका संघटित वा, संघर्ष करा** (शिक्षा प्राप्त करो, संगठित हो और संघर्ष करो) यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने इसमें शिक्षा को प्राथमिकता दी। अपने समकालीन नेताओं की तरह उन्होंने भी मुम्बई, औरंगाबाद और अन्य स्थानों पर शिक्षा संस्थानों की स्थापना के लिए पहल की।

ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी ने 'निम्न' जातियों की महिलाओं और पुरुषों में शिक्षा का प्रसार करने के लिए रात–दिन परिश्रम किया। दयानन्द सरस्वती ने उत्तरी–भारत में शिक्षा संस्थानों की एक श्रृंखला की स्थापना के लिए प्रेरणा दी। मदन मोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। सर सैय्यद अहमद खान मुसलमानों के बीच आधुनिक शिक्षा के प्रसार में अग्रणी रहे। उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाया। उड़ीसा के एक महान् राष्ट्रभक्त गोप बन्धु दास ने सत्यवादी विद्यालय की स्थापना की। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जो भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री बने, स्वयं बहुत ही बड़े शिक्षाविद थे। इसी प्रकार डॉ० एस० राधाकृष्णन, और डॉ० ज़ाकिर हुसैन भी बड़े शिक्षाविद् थे।

शान्ति निकेतन कम–से–कम अपने आरंभिक स्वरूप और प्रयास में (अर्थात् कांग्रेस तथा कम्युनिस्टों द्वारा बारी–बारी से इसके सुनहरे वातावरण को विनाशकारी हस्तक्षेप के द्वारा विषाक्त कर दिये जाने से पूर्व) गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर की विश्व

के ज्ञान को एक अद्वितीय देन थी जैसे कि गीतांजलि कविता–जगत को इनका उपहार था।

इन महान् नेताओं द्वारा किये गये आह्वान और व्यावहारिक उदाहरणों का असर गांव स्तर तक पहुंचा। इस प्रेरणा के फलस्वरूप सभी जातियों, धर्मों और क्षेत्रों के देशभक्तों तथा देशभक्त दानियों ने हजारों विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की जो आज भी देश की सेवा में तत्पर हैं। **स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा** के अवसर पर हम भाजपा के सदस्य शिक्षा के क्षेत्र में इन असंख्य कर्मयोगियों का सम्मान करते हैं और अपने श्रद्धा सुमन उन्हें अर्पित करते हैं।

आज शिक्षा की शोचनीय दशा

किन्तु इसी अवसर पर हम शिक्षा के क्षेत्र में फैले कांटों को भी देखते हैं और अनुभव करते हैं। दशा अत्यंत शोचनीय एवं निराशाजनक है। यह सच है कि पिछले पांच दशकों में स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, तथापि केवल संख्या की ही दृष्टि से भारत में यह प्रगति आवश्यकता से कम ही रही है। स्वतंत्रता की आधी शताब्दी के बाद भी आधे से अधिक जनता निरक्षता के अंधकार में डूबी हुई है। नारी, वनवासी, दलित और गरीब मुसलमानों में यह अनुपात और भी अधिक है। शिक्षा बीच में ही छोड़ देने की दर विशेषकर ग्रामीण विद्यालयों में, नए साक्षरों की संख्या एवं उनकी कार्यकुशलता पर एक काला धब्बा है।

लेकिन सामाजिक ढांचें के अन्य क्षेत्रों की तरह, गुणवत्ता की दृष्टि से, यह अत्यंत ही चिन्ता का विषय है। हमारे शिक्षा संस्थान अधिक से अधिक ऐसे व्यक्ति उत्पन्न कर पाते हैं जो केवल अपनी उन्नति में खुश हैं। सबसे खराब बात यह है कि उन्होंने छुटभैय्ये राजनीतिज्ञों के गढ़ बना दिये हैं, परीक्षाओं में सामूहिक नकल चलती है, महिलाओं के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता है, जातिसम्बन्धी और साम्प्रदायिक घृणा फैलाई जाती है और अक्सर भाइयों में हिंसा होती है।

गुणवत्ता की दृष्टि से एक और पीड़ादायक विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। औपनिवेशिक शासकों ने भले ही पचास वर्ष पूर्व यह देश छोड़ दिया। परन्तु शिक्षा पर औपनिवेशिक प्रभाव अभी तक नहीं गया है और यह प्रभाव उन संस्थानों में और उन वर्गों (प्रशासक, प्रबंधन, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर इत्यादि) पर सबसे अधिक है जो कार्य की दृष्टि से गुणवत्ता की कसौटी पर भी खरे उतरते है।

मैकॉले बुरी तरह सत्य सिद्ध हुआ है

शिक्षित भारतीय मानस का औपनिवेशीकरण सर्वप्रथम लार्ड मैकॉले और उसके सहयोगियों ने १९वीं शताब्दी में सोचा था। वे भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहते थे जो स्वावलम्बी और देशभक्त भारतीय न हो, अपितु एक ऐसा वर्ग हो जो रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीय हो, परन्तु रुचि, राय, नैतिकता और बुद्धि में

अंग्रेज हो।" आज स्वतंत्रता की ५०वीं वर्षगांठ पर महानगरों में रहने वाले अभिजात वर्ग को देखने से यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि मैकाले को अपने मत को सिद्ध करने में आशातीत सफलता मिली है।

अनियंत्रित वैश्वीकरण के कारण हमारे शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग में अपनी राष्ट्रीय जड़ों से बढ़ते विलगाव को देखकर यह खतरा अचानक और भी कई गुना अधिक बढ़ गया है। इस अंधाधुंध वैश्वीकरण के फलस्वरूप हमारे उच्च कोटि के प्रोफेशनल्स और प्रशासक, जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों में, भारतीय बड़े औद्योगिक संस्थानों में, सरकारी विभागों में और वित्तीय संस्थानों में उच्च पदों पर आसीन होते हैं, लाखों व्यक्तियों पर जो प्रभाव छोड़ते हैं उससे वे, जैसा कि मैकॉले ने सोचा था, रुचि, राय, नैतिकता, और बुद्धि में अधिकाधिक पाश्चात्य बन गये हैं।

क्या इसका कोई राष्ट्रीय विकल्प है ? क्या भाजपा के पास शिक्षा की कोई स्वदेशी अवधारणा है जो व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की समयानुसार भौतिक आवश्यकताओं का मिश्रण हो और ज्ञान के व्यापक सभ्यता सम्बन्धी उद्देश्य को पूरा कर सके ?

डॉ. एस.पी. मुकर्जी के शिक्षा सम्बन्धी गूढ़ विचार

इस प्रसंग में, हम डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी के शिक्षा संबंधी गहन विचारों का उल्लेख कर सकते हैं जो स्वयं हमारी पार्टी के संस्थापक–जनक ही नहीं, अपितु स्वतंत्रता संग्राम के युग के देशभक्त–शिक्षाविदों में भी उज्जवल मणि के समान थे। वे एक ऐसे प्रखर प्रतिभा के धनी थे जो १९३४ ई. में सुप्रसिद्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय के केवल ३३ वर्ष की अवस्था में उपकुलपति बने। अपने दस वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने विश्वविद्यालय को शिक्षा की बुलंदियों पर पहुंचा दिया। उन्होंने व्यक्ति–निर्माण और राष्ट्र–निर्माण के लिये शिक्षा के प्रश्न पर विस्तृत रूप से लिखा और वे इस पर बोले। नीचे उद्धृत उनके विचार विश्वविद्यालयी शिक्षा के बारे में हैं। इसके अतिरिक्त पचास–साठ साल पहले जब उन्होंने ये विचार व्यक्त किये थे तब से कई नई राष्ट्रीय आवश्कयताएं उठ खड़ी हुई हैं। फिर भी पाठकों को आज भी भारत में शिक्षा में सभी क्षेत्रों में उनके विचारों की प्रसंगिकता स्पष्ट दिखाई देगी।

दिसम्बर १९३६ ई. में नागपुर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था "एक भारतीय विश्वविद्यालय को स्वयं को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का एक जीवित अंग समझना चाहिए। इन्हें जीवन के आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्षों को सम्मिलित करने के उत्तम साधनों की खोज करनी चाहिए। जाति, धर्म एवं लिंग के भेदभाव के बिना विश्वविद्यालयों को अपने विद्यार्थियों में व्यक्तिगत योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए, जिसका उद्देश्य महज स्वार्थ के लिये न हो, केवल विभिन्न पेशों और व्यवसायों को अपनाने के लिए न हो, अपितु इस तथ्य की शिक्षा देने के लिए हो कि किस प्रकार अपनी मातृभूमि को विकसित और समृद्ध बनाने के लिए एवं मानव

सभ्यता के उच्च आदर्शों का पालन करने के लिए व्यक्ति का समाज के साथ समन्वय हो सकता है। भारत भूमि में एक विश्वविद्यालय के लिए यही एक शाश्वत आदर्श है जो आज की सबसे बड़ी एक आवश्यकता है।''

अगस्त १६३७ में बम्बई विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के डॉ. एस.पी. मुकर्जी के भाषण में स्वदेशी नमूने की शिक्षा का एक अत्यधिक सार्थक वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने नौजवान स्नातकों को कहाः ''आपने पश्चिमी ज्ञान के झरने में गहरी पैठ लगाई है। आपको देश के कल्याण और हित में पश्चिमी सभ्यता एवं विचार–धारा के उत्तम तत्वों को लेने में कोई संकोच नहीं होगा, परन्तु आप ''अपनी सभ्यता के मूलभूत तत्वों'' को किसी भी तरह नष्ट नहीं होने देंगे।

अप्रैल १६४३, में गुरुकुल विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में बोलते हुए उन्होंने शिक्षा प्रणाली के स्वदेशीकरण की आवश्यकता की अवधारणा पर बल दिया था। उन्होंने कहाः ''**हमें अपनी राष्ट्रीय विरासत के प्रति, जो जाति और धर्म के बंधनों से परे है, गर्व हरेक नौजवान के दिल में पैदा करना चाहिए क्योंकि यही उनमें हीनता की भावना और आत्मविश्वास की कमी को दूर कर सकता है, जो कि हमारी प्रगति में बाधक हैं। हम यह दावा करते हैं कि पश्चिम की तरफ देखने के स्थान पर हम अपने समाज का पुनर्निर्माण अपने ढंग से कर सकते हैं।**

स्वदेशी शिक्षा का यह नमूना जो डॉ. मुकर्जी और कई बड़े शिक्षाविदों ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व और उसके बाद प्रतिपादित किया है, आगे आने वाले ५० वर्षों में राष्ट्रनिर्माण के ध्येय में हमारा पथ–प्रदर्शक होना चाहिए।

सुरक्षा

देश एवं आम आदमी की सुरक्षा

अपनी सीमाओं की सुरक्षा के प्रति लापरवाह कोई भी राष्ट्र स्वतंत्र रहने लायक नहीं है—ठीक उसी प्रकार, जैसे उस शासक को शासन का कोई अधिकार नहीं होता जो अपने नागरिकों को सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकता। राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा कोई जमीन जायदाद की सुरक्षा का मामला नहीं है। इसी प्रकार नागरिकों की सुरक्षा सुनिश्चित करना केवल पुलिस का कर्त्तव्य नहीं है।

देश की सुरक्षा तथा आम आदमी की सुरक्षा—सुरक्षा के ये दो पहलू सिर्फ एक—दूसरे से ही जुड़े हुए नहीं हैं, बल्कि 'स्वराज' से 'सुराज' तक की राष्ट्र की यात्रा से भी जुड़े हैं। व्यक्ति और राष्ट्र—दोनों ही समान रूप से स्वतंत्रता चाहते हैं, क्योंकि स्वतंत्रता की स्थिति में ही वे अपने व्यक्तित्व की अलग पहचान बना सकते हैं, और अपनी पूरी संभावनाओं/क्षमताओं का विकास कर सकते हैं। अतः उन्हें अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी होगी, अन्यथा वे अपने 'स्व' की पहचान नहीं कर सकते, न ही उनके 'स्व' की प्रगति हो सकती है और न ही 'स्व' की प्रसन्नता। स्वतंत्रता को लंबे समय तक दबा रखने से दुःख व गतिहीनता तो मिलती ही है, साथ ही पूरी तरह विनाश भी हो सकता है।

इसीलिए स्वतंत्रता की प्रभावी सुरक्षा (स्वराज) का तकाजा है कि उसे शासकों से अच्छा शासन (सु—राज) मिले। राष्ट्र की सुरक्षा के प्रति यह वह वैचारिक दृष्टिकोण है, जिसे भारत के इतिहास में ऋषियों—मनीषियों और प्रबुद्ध शासकों ने बहुत अच्छी तरह समझा। और यही समझ है जो सभी महान स्वतंत्रता सेनानियों का आजादी का स्वप्न बनी सिवाय उनके जो अशान्तिवादी विचारधारा के थे।

जब शौर्य खत्म हो जाता है तब सम्पूर्ण राजतंत्र कमजोर हो जाता है

इस संदर्भ में डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अंतर्दृष्टियुक्त सलाह अध्ययन के योग्य है। उन्होंने लिखा था ''अगर मैं अपने देश के इतिहास को सही अर्थों में समझ पाया हूं, तो यह कहूंगा कि जो शांतिवादिता अन्याय के विरूद्ध हथियार उठाने को मना करती है, और व्यक्ति को दमन और आक्रमण का मूक दर्शक बना देती है — वह भारत की असली शिक्षा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन काल में भारत के स्वतंत्र शासकों व ऋषि—मुनियों ने शौर्य को बहुत ऊंचा दर्जा दिया था। जब शौर्य खत्म हो जाता है, तो संपूर्ण राजतंत्र कमजोर हो जाता है। जब तलवार और पुस्तक के ज्ञान को एक साथ रखा जाता है, तो राज्य के मामलों

में न्याय, समता और स्वतंत्रता का ही शासन रहता है। हम शौर्य की उसी प्राचीन भावना को फिर से जीवंत देखना चाहते हैं–उस आत्मिक ज्ञान के पुट के साथ, जो हमारी प्रतिभा तथा वर्तमान वास्तविक आवश्यकताओं के अनुरूप हो। हमारी सभ्यता को आधुनिक समय की अराजकतापूर्ण स्थिति से छुटकारा इसी रास्ते पर चल कर ही मिल सकता है।''

देश और आम आदमी की सुरक्षा को पांच दशकों के स्व–शासन ने कितना सुनिश्चित किया है–यदि जनता में इसका सर्वेक्षण किया जाए, तो उन्हें कोई अच्छे नंबर नहीं देगा, जिन्होंने स्वतंत्र भारत पर शासन किया है। यह जानी–मानी बात है कि जो देश शत्रु के आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकता, विश्व–समुदाय में उसको कोई बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखता। १९६२ के चीनी आक्रमण के दौरान यही हुआ था जिसने जवाहरलाल नेहरू की शांतिवादी सरकार को भी सकते में डाल दिया था, क्योंकि वह आक्रमण का सामना करने के लिए तैयार नहीं थी। वह एक राष्ट्रीय अपमान था, जिसका असर भारत चीन के संबंधों पर आज तक देखा जा सकता है, भले ही पिछले दो दशकों में दोनों देशों के द्विपक्षीय संबंधों का काफी हद तक सामान्यीकरण हुआ है।

भारत ने इस सबक को जल्दी ही सीख लिया तथा जब हमारे अमित्रवत पड़ौसी पाकिस्तान ने १९६५ और १९७१ में हमला किया तो हमारे बहादुर जवानों ने मुंहतोड़ जवाब दिया। इन दो पराजयों ने विशेषकर दूसरी पराजय ने, जब भारत ने बांग्लादेश को पाकिस्तान के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई में सफलतापूर्वक उसकी मदद की, युद्धप्रिय इस्लामाबाद का जोश काफी ठंडा कर दिया है, हालांकि पूरी तरह नहीं। पाकिस्तानी शासकों को अंततः यह गंभीर अहसास हो गया है कि वे कभी भी भारत से परंपरागत युद्ध में नहीं जीत सकते। लेकिन इससे वे सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध में अपनी भारत–विरोधी रणनीति में परिवर्तन करने को विवश हुए।

इस्लामाबाद की भारत–विरोधी नई रणनीति

इस रणनीति के स्पष्ट ही तीन हिस्से हैं: पहला यह कि अपने को ''इस्लामिक'' परमाणु बम से लैस करना; दूसरा, कश्मीर में हल्के स्तर का परोक्ष युद्ध छेड़ना, जिसका उद्देश्य घाटी में अलगाववादी आन्दोलन को सफलतापूर्वक सक्रिय सहायता देना है और वह इसमें सफल भी हुआ है; और तीसरा, आतंकवाद फैलाना और देश के विभिन्न भागों में रहने वाले अल्पसंख्यकों के बीच हिन्दू–विरोधी, भारत–विरोधी तथा अलगाववादी भावनाएं भड़काना। आई एस आई, जिसे पाकिस्तान में संविधानेतर दर्जा प्राप्त है, इस तीन हिस्सों वाली रणनीति का दिमाग और रीढ़ बनी हुई है।

इस रणनीति के तीनों हिस्सों का साझा उद्देश्य भारत को अन्दर से कमजोर करना, साम्प्रदायिक अराजकता फैलाना, उसके इरादों और आत्मविश्वास में सेंध लगाना, आन्तरिक भ्रम को बढ़ावा देना, अलगाववाद और विभाजन तथा सबसे अन्त

में निर्णायक घड़ी में, यदि आवश्यक हो तो किसी तीसरे राष्ट्र की मदद से और यदि सम्भव हो तो उसके बिना आक्रमण करके हमारी मातृभूमि के टुकड़े–टुकड़े करना है।

दुर्भाग्यवश, यह वह दौर है जब भारत अपने इस अमित्रवत पड़ोसी की इस भारत–विरोधी रणनीति का प्रभावी ढंग से जवाब दे पाने में असफल रहा है। पाकिस्तान समर्थित आतंकवाद तथा 'खालिस्तान' समर्थक शिंकजे से मुक्त होंने और सामान्य अवस्था में लौटने के लिए पंजाब को एक दशक से भी ज्यादा का समय लग गया। कश्मीर में खतरा पहले जैसा ही बरकरार है। उत्तर–पूर्व में स्थिति चिन्ताजनक स्तर तक बिगड़ चुकी है और इसमें बांगलादेश शरणार्थियों का निर्बाध रूप से आना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इधर कुछ समय से 'आई एस आई' केरल, तमिलनाडू महाराष्ट्र तथा अन्य राज्यों में भी अपने पांव जमाने की कोशिश कर रही है। इसके तहत वह राष्ट्रवादी संगठनो को अपना विशेष निशाना बना रही है।

जहां तक हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदूर तटों की ओर से खतरे का सम्बन्ध है, आज के 'हाई टैक' युद्ध कला के जमाने में इसे भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। वह सागर जो हमारे देश का नामधारी है– हिन्द महासागर–विदेशी सैनिक अड्डों से खाली नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीत युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद अब एक मात्र सुपर पावर का उदय हो गया है। चीन जो बड़ी तेजी से विश्व की आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है, अपनी सैन्य शक्ति को भी उतनी ही तेजी से बढ़ा रहा है। लिहाजा ऐसे विश्व परिदृश्य के उद्घाटित होने पर किसी भी प्रकार की लापरवाही दुर्भाग्य पूर्ण होगी।

तब भारत को क्या करना चाहिए? पहली बात तो यह कि अर्न्तराष्ट्रीय मंचों पर हमें विश्व शांति, विश्व–सुरक्षा तथा विश्व–शक्तियों द्वारा असैन्यीकरण और परमाणुरहित करने के समर्थन में मजबूती से आवाज उठाते रहना चाहिए। लेकिन साथ ही हमें अपने इतिहास को भी कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए जिसमें प्रतिरक्षा में अपनी गौरवपूर्ण शौर्य परम्रा तथा अत्यधिक शांतिवाद की दुखद परम्परा, लापरवाही तथा आन्तरिक अलगाववाद दोनों ही शामिल हैं। **इतिहास बार–बार इस तथ्य का गवाह रहा है कि भारत जब असफल और पराजित हुआ तो उसका मुख्य कारण यह था कि उस नाजुक घड़ी में लोग हतोत्साहित, विभाजित तथा असंगठित थे।** भारत के ऋषि–मुनियों और दार्शनिकों ने यह कभी नहीं सुझाया कि कायर और कमजोर तथा एकता की आवश्यकता के प्रति बेखबर लोग कभी भी भारत की सुरक्षा की महान परम्परा के मशालवाहक हो सकते। हमारे ऋषि मुनियों ने ठीक ही कहा था:

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः

(सिर्फ वीर ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं)

अब जबकि आजादी के ५०वें वर्ष में भारत आने वाले दशकों के लिए अपनी सुरक्षा पर विचार कर रहा है, तो यह चेतावनी याद रखने लायक है।

शुचिता

विकृत भारतीय राजनीतिज्ञ की छवि को बदलने की आवश्यकता

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सार्वजनिक जीवन के किसी और क्षेत्र में शायद इतना क्षरण नहीं हुआ है और सुधार की इतनी नितांत आवश्यकता नहीं है जितनी राजनीति में। आज एक औसत राजनीतिज्ञ की क्या छवि है? वह एक एक ऐसा व्यक्ति है जो बेईमान, चरित्रहीन, अवसरवादी और सत्ता लोलुप हैं एवं जिसके लिए देश एवं आम आदमी की प्राथमिकता बाद में है और स्वयं का निजी हित पहले है। आज राजनीतिज्ञ के बारे में आम धारणा यह है कि राजनीति एक विशुद्ध व्यापार बन कर रह गया है।

दरअसल राजनीति को व्यापार बना देने से राजनीति का अपराधीकरण हुआ है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान व्याप्त धारणा से यह बिलकुल भिन्न है जब राजनीति में प्रवेश करने वाले एक मिशन लेकर राजनीति में आते थे।

दोनों ही धारणाओं के मूल में वास्तविकता है, हालांकि तब भी अपवाद थे और आज भी अपवाद हैं। स्वतंत्रता आंदोलन में राजनीति में आने वाले अधिकांश में आदर्शवाद और देश के कर्त्तव्य निर्वाह करने की भावना होती थी। प्रायः सदैव इसमें व्यक्तिगत त्याग का तत्त्व रहता था। मातृभूमि के आह्वान पर शिक्षकों,, वकीलों, डाक्टरों और ऐसे ही अन्य लोगों ने अपना व्यवसाय छोड़ दिया। इसी प्रकार ऐसे नौजवान और महिलाएं भी थीं, जिन्हें अपने सगे सम्बन्धियों से बिछुडना पड़ा और उन्हें अनिश्चितता की स्थिति में रहना पड़ा और व्यक्तिगत रूप से दुःख भोगने पड़े, जिसमें ब्रिटिश जेलों में जीवन बिताना भी शामिल है।

नेता जो स्वयं एक आदर्श बने

इसके बावजूद, उस समय के राजनैतिक नेताओं ने स्वेच्छा से सहर्ष व्यक्तिगत त्याग किया क्योंकि लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल, गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी, अबुल कलाम आजाद, सरदार वल्लभभाई पटेल, सरोजिनी नायडू और सैंकडों अन्य नेताओं के उच्च आदर्श उनके सामने मौजूद थे, जिन्होंने स्वयं भारतीय स्वतंत्रता की वेदी पर अपना जीवन बलिदान कर दिया।

तरूण सावरकर विधि में उच्च शिक्षा प्राप्त करने यूरोप गए थे; उन्होंने यूरोप के समुद्री तटों पर बैठकर एक प्रसिद्ध कविता लिखी थी, जिसमें उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहाः **ऐ सागर, मुझे मेरी मातृभूमि पर वापस ले चल, मैं मातृभूमि से बिछुडकर मन के अन्दर के अपने तूफान को रोक नहीं पा रहा हूं। यहां विदेश में यह आकाश और सितारे एक से बढ़ कर एक दृश्य प्रस्तुत कर अपनी चमक**

से मोहित करते हैं, परन्तु मुझे तो उस सितारे की तलाश है जो मेरी मातृभूमि के आकाश में चमकता है। यहां अनेक बड़ी–बड़ी अट्टालिकाएं हैं जो मुझे आकर्षित करती हैं, परन्तु मुझे अपनी मातृभूमि की कुटिया में ही सुख मिलता है।"

राजनीति में प्रवेश करने वाले आज भी बहुत से लोग हैं, जो अपने देश और समाज के लिए कुछ करने की इच्छा से राजनीति में आते हैं। परन्तु खेद है कि राजनीति को व्यापार मानने वाले लोगों की तुलना में इनकी संख्या घटती जा रही है; यहां तक कि स्वयं व्यापार का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है और वह अधिकाधिक राजनीति को निर्देशित कर रहा है। ऐसे बहुत से मंत्री और निर्वाचित प्रतिनिधि हैं, जिनके बारे में सचमुच अनेक विश्वसनीय कहानियां प्रचलित हैं कि उन्होंने भारत में तथा इससे भी बदतर हालत यह है कि विदेशी सम्पत्तियों और विदेशी बैंक खातों में विशाल धन राशि जमा कर ली है जिससे आज राजनीति और राजनेताओं की एक अनैतिक सार्वजनिक छवि ही बनती है। यहां भी हमारे राष्ट्रीय जीवन में अन्य बुराईयों की तरह राजनीति को पतनोन्मुख बनाने में कांग्रेस का ही सबसे बड़ा हाथ है।

राजनीति को व्यवसाय और व्यवसाय को राजनीति न बनाए!

इसलिए, स्वतंत्रता प्राप्ति की ५०वीं वर्षगांठ पर, राजनीतिज्ञों की बढ़ती जनसंख्या का एक दायित्व यह है कि वे आत्म निरीक्षण करें और अपने आप से सीधा–सादा प्रश्न पूछे कि "हम राजनीति में क्यों हैं? क्या राजनीति को धन कमाने का साधन बनाकर हम स्वयं को और अपने कार्य को छोटा नहीं बना रहे हैं? स्वतंत्रता संग्राम की तरह का उत्साह तो संभवतः पुनर्जीवित नहीं हो सकता, क्योंकि साधारणतया समाज में विदेशी शासन या आक्रमण ही बलिदान की भावना को पैदा करते हैं। परन्तु क्या हमें राजनीति को, 'व्यवसाय' बनाने की व्यवस्था को खत्म नहीं कर देना चाहिए? क्या हमें राजनीति में धन शक्ति के प्रभाव को घटाना नहीं चाहिए?

क्या हमें नई प्रवृत्ति और संस्कृति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए? जिसमें राजनीति एक ऐसा पेशा हो जिसमें प्रवेश करने वाले में एक न्यूनतम अर्हता, योग्यता (प्रशिक्षण और स्वाध्याय से) और एक व्यावसायिकता हो जैसे कि आधुनिक समाज में किसी अन्य पेशे में है? यह ऐसा मुद्दा है जिस पर सभी राजनीतिक पार्टियों को गम्भीरता से चर्चा करनी चाहिए कि **क्या यह उचित नहीं होगा कि राजनीति समस्या का हिस्सा बनने की बजाए समाधान का हिस्सा बने**। जब कि आज यह समस्या का अंग बनी हुई है।

आइये, दीनदयाल जी के सिद्धांत का अनुसरण करें

किन्तु, राजनीति एक बार फिर 'समाधान' का हिस्सा कैसे बन सकती है, जैसा कि यह स्वतंत्रता आन्दोलन के युग में वस्तुतः बन गई थी? **शुचिता** को जो कि **सुराज** का सब से जरूरी अंग है कैसे फिर से स्थापित किया जा सकता है और आम बनाया जा

सकता है? एक बार फिर हमारा ध्यान अपने दार्शनिक पथप्रदर्शक, पंडित दीनदयान की ओर जाता है, जो शुचिता की स्वयं एक दैदीप्यमान प्रतिमा थे। उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के परिप्रेक्ष्य में इसका वर्णन किया है।

अपने 'एकात्म मानववाद' के शोध प्रबन्ध में उन्होंने इस रोग के लक्षण बड़े स्पष्ट शब्दों में बताये हैं, जो कि गत तीन दशब्दियों में तेजी से बढ़ता गया है। "पार्टियों तथा राजनीतिज्ञों के न तो कोई सिद्धांत हैं, न ही कोई उद्देश्य और ना ही आचार संहिता के कोई मापदंड हैं..... अब राजनीति में पूर्ण स्वच्छन्दता है। **जिसके फलस्वरूप जनता के मन में हरेक के लिये अविश्वास की भावना है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसकी ईमानदारी पर जनता के मन में सन्देह न हो।**

लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात्, उन्होंने इसका उपचार बताया है। "यह स्थिति बदलनी चाहिये। अन्यथा समाज में एकता और अनुशासन स्थापित नहीं किया जा सकता .... हमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अपनी संस्कृति पर विचार करना होगा कि यह हमारा स्वभाव है। स्वतंत्रता का हमारी अपनी संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। **यदि संस्कृति स्वतंत्रता का आधार नहीं बनेगी, तो स्वतंत्रता के लिये राजनीतिक आन्दोलन स्वार्थी और सत्ता–लोलुप लोगों की केवल छीना–झपटी का विषय बन कर रह जायेगी। स्वतंत्रता तभी सार्थक हो सकती है यदि यह हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाये। यह अभिव्यक्ति न केवल हमारी प्रगति में सहायक होगी, अपितु इसके लिए अपेक्षित प्रयास से आनन्द की अभिव्यक्ति भी होगी। अतः राष्ट्रीय एवं मानव दोनों ही दृष्टिकोणों से यह आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के सिद्धांतों पर विचार करें।"**

सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन में शुचिता को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता पर श्री आडवाणी अपनी **स्वर्ण जयंती रथ यात्रा** में सब से अधिक बल देंगे।

१६०१–१६१०:
दिग्गजों की दशाब्दी
लेखक – लाल कृष्ण आडवाणी

दिसंबर १६०० में अर्थात् २०वीं शताब्दी से ऐन पहले स्वामी विवेकानंद यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका के एक युगांतरकारी दौरे से भारत लौटे। मद्रास में एक सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा:

"अगले ५० वर्षो में एकमात्र यही हमारी मुख्य विचारधारा होनी चाहिये—यह हमारी महान मातृभूमि भारत। उस समय तक हमें अपने मस्तिष्कों से और सारे बड़े–बड़े देवी देवताओं को निकाल देना चाहिये। यही एकमात्र देवी है जो जागृत है अन्य सभी देवी–देवता निद्रामग्न हैं।"

आगे की दशब्दियों में उस महान देशभक्त संत के यही शब्द देश के कोने–कोने में विभिन्न भाषाओं में और उच्चारणों में और विभिन्न तरीकों से कानों में गूंजते रहे। **वन्दे मातरम्** (मातृभूमि तुम्हें प्रणाम है) हमारा मूल मंत्र बन गया, जिसने बहुत सारे नवयुवकों और नवयुवतियों को मातृभूमि की सेवा में अपने जीवनों को अर्पित कर देने की प्रेरणा दी।

विवेकानंद एक धार्मिक व्यक्ति थे । किन्तु वे अंधविश्वास और कर्मकांड को सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने अंग्रेजी शासन से भारत की आजादी की बात नहीं कही।

परन्तु उनके भाषणों और लेखों से देशभक्ति की भावना टपकती थी। वास्तव में इसमें कोई संदेह नहीं है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत के राजनैतिक और सामाजिक आकाश में जो कुछ दिखाई दिया उसकी जड़ें १६वीं शताब्दी के आध्यात्मिक महापुरूषों जैसे दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद द्वारा लायी गई धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागृति में सन्निहित थीं। यद्यपि विवेकानन्द का देहान्त १६०२ में हो गया था। इस पत्र ने जो दशाब्दीवार वर्गीकरण किया है उसमें विवेकानन्द १६वीं सदी की अंतिम अथवा अंतिम से पहली दशाब्दी के व्यक्ति थे।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत ने स्वामी जी द्वारा निर्धारित ५० वर्षो के अंदर ही विदेशी जुए से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। इन पांच दशाब्दियों में से पहली दशाब्दी में संतों और नीतिज्ञों, क्रांतिकारियों एवं शहीदों, विद्वानों एवं समाज–सुधारकों के दैदीप्यामान महापुरूषों के नक्षत्र मण्डल का उदय हुआ। यह दिग्गजों की दशाब्दी थी। इन में से दस सबसे बड़े महापुरूषों की गिनती करना कठिन है। सबसे पहले लाल–बाल–पाल इस अद्भुत त्रिमूर्ति ने भारत की मुक्ति के प्रश्न के संबंध में अपने उग्र मार्ग का प्रतिपादन करके संपूर्ण देश की कल्पना शक्ति को अपने वश में कर लिया। तीन विभिन्न राज्यों (तत्कालीन प्रांतों) में–पंजाब में लाला लाजपत राय,

महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक और बंगाल में विपिन चन्द्र पाल इन तीन नेताओं ने अपने नरमपंथी तुष्टिकारक पूर्वाधिकारियों के नरमपंथी और अनुनय–विनय करने वाले मार्ग का परित्याग करके कांग्रेस को एक शक्तिशाली जुझारू यंत्र बनाने का दृढ़ निश्चय किया जिससे याचिकाओं एवं ज्ञापनों के द्वारा आजादी प्राप्त न की जाय, अपितु सामूहिक कार्यवाही के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की जाय। तिलक ने घोषणा की, ''स्वराज्य मेरा, जन्म–सिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूंगा'' और यह सभी देशभक्तों का मूलमंत्र बन गया।

विद्रोही त्रिमूर्ति और उन्होंने पत्रकारिता के जो हथियार उठाये–लाजपत राय के **पंजाबी**, तिलक के **केसरी** और विपिन चन्द्र के **वन्दे मातरम्** स्वाभाविकतया अंग्रेजों के कोपभाजन बन गये। पहले लाजपत राय को और उसके बाद तिलक को मांडले (बर्मा) में प्रवास भेज दिया गया और यातनायें दी गईं विपिन चन्द्र को बक्सर की जेल में भेज दिया गया। ये तीनों जनता के आराध्य देव बन गये और इस त्रिमूर्ति के फोटोग्राफ घर–घर में लग गये।

राष्ट्रीयता की उग्रवादी विचारधारा की लोगों ने प्रसंशा की। किन्तु इससे उस बात को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता जो आदर और सम्मान प्रतिद्वंद्वी मंदिर के बड़े पुजारी गोपालकृष्ण गोखले को मिला। वे दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता और दिनशावाछा जैसे महान नरमपंथियों में सबसे अंतिम थे। स्वयं गांधी जी ने जो स्वराज्य को प्राप्त करने के तरीके के प्रश्न के बारे में अपने आपको आग उगलने वाला क्रांतिकारी मानते थे उन्हें ''मेरे राजनीतिक गुरू'' की संज्ञा दी थी। १६०६ की सूरत कांग्रेस के अवसर पर नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच औपचारिक रूप से विभाजन हो गया और उस युग के दिग्गजों के बीच असली घमासान युद्ध हुआ।

इस दशाब्दी की सबसे बड़ी घटना अंग्रेज सरकार का बंगाल का विभाजन करने का निर्णय था। इस निर्णय से पहले स्वतंत्रता आन्दोलन को बढ़ने से रोकने के लिये कई कदम उठाये गये थे। शिक्षा संबंधी सुधारो के नाम पर विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण सख्त कर दिया गया था। कानून के बहुत से महाविद्यालय बंद कर दिये गये थे। अत्याचारी अफसरों को सार्वजनिक आलोचना से बचाने के लिये भारतीय शासकीय गोपनीयता (संशोधन) अधिनियम पारित किया गया।

अंग्रेज भारतीय राष्ट्रवाद में न केवल उग्रता के बढने से अपितु 'देशी लोगों' में उत्तम प्रतिभा के प्रदर्शन से भी बहुत भयभीत थे। वायसराय कर्जन ने भारत सचिव को एक पत्र मे लिखा थाः

> ''....६०० से कुछ अधिक उच्च पद जो यूरोप निवासियों के लिये एकमात्र रूप से रखे गये थे और सुरक्षित थे अंग्रेजी परीक्षा में देशी लोगों की उत्तम बुद्धिमत्ता के द्वारा उन पर कब्जा कर लिया गया।''

भारत सरकार के सचिव रिजले ने विभाजन योजना के उद्देश्यों के बारे में स्पष्ट रूप से लिखा था:

''संयुक्त बंगाल एक शक्ति है। विभक्त बंगाल अलग–अलग दिशाओं में एक दूसरे को खींचेगा, हमारा मुख्य उद्देश्य इनको विभक्त कर देना है जिससे कि हमारे शासन के विरोधियों का ठोस निकाय कमजोर हो जाय।''

अंग्रेजों को उस तूफान का जरा भी आभास नहीं था जो उनके इस कदम से उठने वाला था। यह कदम '' प्रशासनिक सुविधा'', ''असम के विकास'' और ''मुसलमानों के लिये अधिक न्यायपूर्ण सौदे'' के उद्देश्य से उठाया गया था। बंगाल ने अभूतपूर्व क्रोध के साथ इस निर्णय के खिलाफ विद्रोह कर दिया और इससे उत्पन्न क्रुद्ध अंग्रेज–विरोधी मनःस्थिति से सारे देश में बिजली सी कौंध गई। यहां तक कि गोखले जैसे नरमपंथी नेताओं ने भी बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में इस निर्णय की निंदा की। १६०५ में बनारस कांग्रेस की अध्यक्षता करते हुये गोखले ने विभाजन को ''एक क्रूर गलती'' और ''नौकरशाही शासन की वर्तमान पद्धति का सबसे खराब उदाहरण, बुद्धिमत्ता की घोर उपेक्षा, लोगों की सदियों पुरानी भावनाओं की सर्वथा उपेक्षा बताया था''......

इस विभाजन–विरोधी आन्दोलन के दौरान क्षितिज पर एक चमकते हुये सितारे का उदय हुआ, वह नवयुवक और गतिशील अरविन्द घोष थे। २१ वर्ष की आयु में कैंब्रिज से लौटने के बाद बंबई के एक पत्र **इन्दु प्रकाश** के लिये वे ''पुराने की जगह नये लैंप'' शीर्षक से एक राजनैतिक लेख–माला लिखते थे। इन लेखों में उन्होंने कांग्रेस के राजनैतिक उद्देश्यों और तौर–तरीकों पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया और इस बात पर बल दिया कि केवल जनता को सामूहिक रूप से शामिल करके ही भारत आजादी प्राप्त कर सकता है। अरविन्द ने ही सूरत कांग्रेस में अध्यक्ष पद के लिये तिलक के नाम का प्रस्ताव किया था और जो नरमपंथियों और गरमपंथियों के बीच हुई लड़ाई के लिये व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार थे। **वन्देमातरम्** में लिखे गये लेखों के लिये उन पर देशद्रोह का आरोप लगाया गया और उन्हें अलीपुर षड्यंत्र के मामले में भी फंसा दिया गया।

लाल–बाल–पाल तथा अरविन्द घोष जैसे नेताओं के अधीन उग्रवादी राष्ट्रवाद के साथ–साथ शक्तिशाली विभाजन विरोधी आन्दोलन के कारण बंगाल का विभाजन रोकने में विफल होने के साथ–साथ क्रांतिकारी आतंकवाद में वृद्धि हुई। शायद अन्य किसी दशाब्दी में इतने अधिक क्रांतिकारी शहीदों की बाढ़ कभी नहीं आई थी जितनी कि विशेष रूप से इस दशाब्दी में आई।

१८६७ में दामोदर और बालकृष्ण छपेकर नामक दो भाइयों ने दो अलोकप्रिय अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। तब से सरकार उन सभी देशभक्तों की गतिविधियों के बारे में बड़ी सजग हो गई थी जिनके आतंकवादी बनने की संभावना थी। इसलिये जब २३ वर्षीय विनायक दामोदर सावरकर १६०६ में लंदन पहुंचे और कानून के अध्ययन के लिये उन्होंने 'ग्रेज इन' में प्रवेश प्राप्त कर लिया तो लन्दन के

इंडिया आफिस को पूना के विशेष विभाग ने एक चेतावनी भेजी कि इस "आग उगलने वाले" नवयुवक पर जिसकी "दामोदर हरि छपेकर की राय से मिलती–जुलती राय है निगरानी रखने की आवश्यकता है।"

सावरकर ने ५ बड़े महत्वपूर्ण वर्ष लंदन में बिताये। इन्हीं दिनों उन्होंने **'आजादी का युद्ध'** नामक अपनी पुस्तक लिखी जिस पर छपने से पहले ही प्रतिबंध लगा दिया गया। यह पुस्तक सभी क्रांतिकारियों की गीता बनने वाली थी। यहीं पर उनका संपर्क भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, सेनापति बापट, मदन लाल ढींगरा, मैडम कामा (जिन्होंने राष्ट्र के तिरंगे झंडे को स्ट्रटगार्ट में फहरा कर इतिहास रचा) जैसे अन्य अनेक क्रांतिकारियों से हुआ। और इन सबके लिये और स्वयं सावरकर के लिये प्रेरणा के शाश्वत स्रोत श्याम जी कृष्ण वर्मा से भी वह मिले। श्याम जी एक विद्धान–कवि–दानी थे जो क्रांतिकारी बन गये थे, ६५, क्रामवेल एवेन्यू, हाईगेट पर स्थित "इंडिया हाउस" नामक उनके, निवास स्थान को अंग्रेज गुप्तचरों ने "हाउस आफ हारर" का नाम दिया था। ग्रेज इन ने सावरकर को वकालत के लिये बुलाने से इंकार कर दिया।

१९०६ में कर्जन–वायलिक भारत सचिव के ए डी सी को मदन लाल ढींगरा ने गोली मार दी। सावरकर ने सार्वजनिक रूप से इसकी प्रसंशा की। उसके थोड़ी देर बाद सावरकर को नासिक षड्यंत्र के मामले में गिरफ्तार कर लिया गया और मुकदमे के लिये भारत भेज दिया गया। जब उनका जहाज ब्रिटिश चैनल से गुजर रहा था तो उन्होंने समुद्र में ऐतिहासिक छलांग लगाई और बाद में वह गैर–कानूनी तरीके से फ्रांस की धरती पर पकड़े गये और अब यह सारी चीज सभी स्वतंत्रता सेनानियों के लिये एक प्रेरणादायक गाथा बन गई है। दिसंबर १९१० में उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई।

देश के अंदर भी बम और गोली का सिद्धांत बिजली की तरह सारे देश में फैल गया। बहुत से अंग्रेज अफसर मार दिये गये या उन पर हमले हुये। और खुदीराम बोस तथा प्रफुल्लचाकी नामक दो युवकों ने मुज्जफरपुर के जिला जज किंग्सफोर्ड पर हमला किया। खुदीराम पकड़े गये; प्रफुल्ल ने आत्महत्या कर ली। खुदीराम पर मुकदमा चलाकर उसे मृत्युदंड दिया गया।

धुर दक्षिण में जब चिदाम्बरम पिल्लै, को जिसने पूर्ण स्वतंत्रता की जोरदार वकालत की थी गिरफ्तार कर लिया गया, तो इसके फलस्वरूप टूटीकोरिन और तिरूनलवेली में दंगे हो गये। पुलिस ने कानून तोड़ने पर आमादा भीड़ पर गोली चलायी। अंग्रेज अफसर एशो, जिसने गोली चलाने का आदेश दिया था, बाद में भारत माता एसोसिएशन के वांची अय्यर द्वारा कत्ल कर दिया गया। बच निकलने में असफल होने पर अय्यर ने अपने आपको गोली मार ली।

अरविन्द और सावरकर दोनों हृदय से कवि थे। परन्तु दोनों क्रांतिकारी कामों में फंस गये थे।इनके अतिरिक्त तिरूनलवेली जिले में एट्टियापुरम् के रहने

वाले एक युवक थे, जिन्होंने यह अनुभव किया कि स्वतंत्रता संग्राम में उनका सबसे अच्छा योगदान एक कवि के रूप में ही हो सकता है। यह नौजवान सुब्रह्मण्य भारती थे, जो एक प्रतिभाशाली कवि थे, जो दरिद्रता में ही जीवन व्यतीत कर मर गये, किन्तु जिनके देशभक्ति के गीत आज भी देश को प्रेरणा देते हैं।

कहा जाता है कि किसी महापुरूष की सच्ची पहचान उनका अपनी आयु से बड़ा होना होता है। इस कसौटी से मैं अपनी दस महापुरूषों की सूची में दो विभिन्न क्षेत्रों के पुरूषों को, जो सर्वोत्तम हैं शामिल करना चाहूंगा। एक, मैसूर रियासत के पूर्व दीवान डा० मोक्षगुंडम् विश्वेश्वरैया और दूसरे डा० ढोंडों केशव करवे थे, जिन्हें लोग महर्षि कर्वे के नाम से अधिक अच्छी तरह जानते हैं।

डा० विश्वेश्वरैया एक सुप्रसिद्ध इंजीनियर, योग्य प्रशासक, समर्पित शिक्षाशास्त्री और सबसे अधिक भारत में आर्थिक योजना के प्रणेता थे।

महर्षि करवे ने स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करके विधवा विवाह के लिये आन्दोलन करने का निर्णय करके कट्टरपंथियों के गढ को हिला दिया। आनंदीबाई नामक एक विधवा से उनके विवाह के कारण वह अपनी ब्राह्मण जाति में एक बिल्कुल बहिष्कृत व्यक्ति बन गये थे। इसके फलस्वरूप उनके सम्बन्धियों का भी बहिष्कार कर दिया गया। तथापि सामाजिक जीवन में उनका एक और महत्वपूर्ण योगदान महिला शिक्षा के क्षेत्र में था। जब करवे ने १६०७ में महिला विद्यालय खोला तो मेजर हंटरस्टीन ने **दी टाइम्स आफ इंडिया** (१४ मार्च १६०८) में लिखा: ''पूना नगर के नारायण पेठ के एक छोटे से घर, में जो लकड़ी–पुल से ज्यादा दूर नहीं है, भारत के इस हिस्से में एक सर्वोत्तम चीज का एक छोटा सा श्रीगणेश हुआ है जो कि देश में एक दिन सामाजिक पुनर्जागरण सिद्ध होगी।''

एक सिरफिरे ने ईषावास्योपनिषद् में पूछा : ''कौन एक लंबा और थका देने वाला जीवन व्यतीत करना पसंद करेगा?''. ऋषि ने उत्तर दिया: ''कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये १०० वर्ष तक आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहेगा।''

विश्वेश्वरैया और करवे दोनों ही आनंदपूर्वक अपने धर्म का पालन करते हुये १०० वर्ष से अधिक तक जीवित रहे। राष्ट्र ने भारत रत्न के सबसे बड़े सम्मान से उन्हें सम्मानित करके मान्यता प्रदान की। एक सामाजिक सम्मेलन में महर्षि करवे ने कहा:

> ''जिन्होंने उन प्राचीन दिनों की लड़ाई लड़ी थी वह सब मर गये हैं । मैं ही पीछे बच गया हूं। उन्होंने जो समाज–सुधारों की मशाल जलाई थी मैंने वह अपने हाथ में थामी हुई है। अब मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूं और इसे और आगे नहीं ले जा सकता। मैं इसे आपको सौंपने के लिये यहां आया हूं।''

आइये, हमारे इन आदरणीय पुरखों द्वारा जलाई गई देशभक्ति, समाज–सुधार और समर्पण की इस मशाल को, नयी पीढ़ियां आगे ले जायें।

(*'जेन्टलमैल'* पत्रिका से)

वीर का रथ दौड़ा आता है....

रामधारी सिंह दिनकर की कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा' में शौर्य के शोले बरसते हैं। जन–जन में जोश का उबाल लाने वाली यह कविता समाज में व्याप्त दुर्बलता को नष्ट कर नस–नस में शक्ति भरने में सक्षम है। आज **स्वर्ण जयन्ती रथ यात्रा** के अवसर पर *'परशुराम'* की भूमिका में *आडवाणी जी* को रख कर इस कविता के कुछ अशं पढ़िए!

अम्बर में जो अप्रतिम क्रोध छाया है,
पावक जो हित को फोड़ निकल आया है,
वह किसी भांति भी व्यर्थ नहीं जाएगा,
आएगा, अपना महावीर आएगा।

विद्युत बनकर जो चमक रहा चिंतन में,
गुंजित जिसका निर्घोष लोक–गर्जन में,
जो पतन–पुंज पर पावक बरसाता है,
यह उसी वीर का रथ दौड़ा आता है।

विक्रमी रूप नूतन अर्जुन–जेता का,
आ रहा स्वंय यह परशुराम त्रेता का।
वह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है,
यह और नहीं कोई, विशुद्ध भारत का है।

गांधी–गौतम का त्याग लिए आता है,
शंकर का शुद्ध विराग लिए आता है।
सच है, आंखों में आग लिए आता है,
पर, यह स्वदेश का भाग लिए आता है।

मत डरो, संत यह मुकुट नहीं मांगेगा,
धन के निमित्त यह धर्म नहीं त्यागेगा,
वह लक्ष्यबिन्दु तक तुम को ले जाएगा,
उंगलियां थाम मंजिल तक पहुंचाएगा।

******
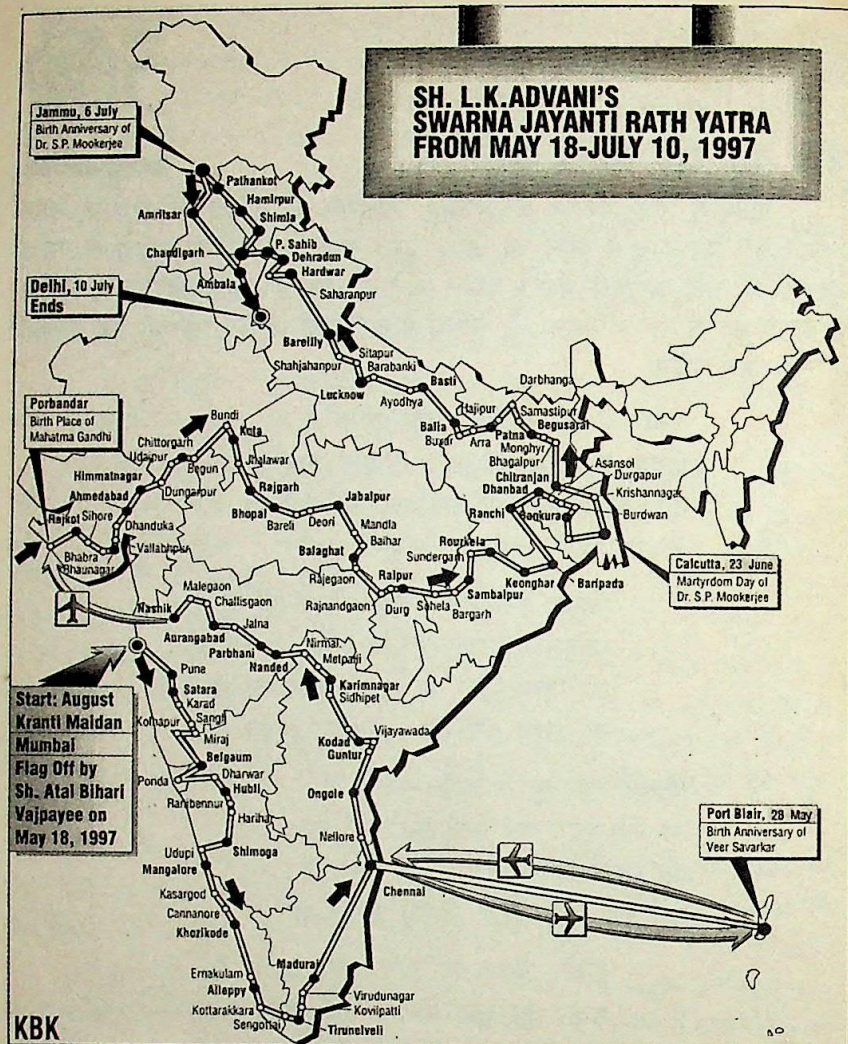
प्रकाशकः भारतीय जनता पार्टी (केन्द्रीय कार्यालय) ११, अशोक रोड, नई दिल्ली–१
मुद्रक : कपूर प्रेस, ४५, भगत सिंह मार्केट, नई दिल्ली–११०००१
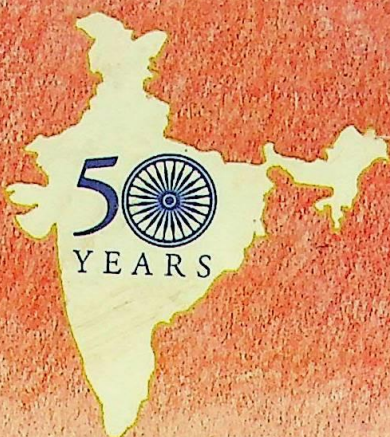
कहाँ पहुंचे हैं हम आधी शताब्दी के बाद?
कहाँ पहुंच सकते थे हम आधी शताब्दी के बाद?
प्यारे देशवासियो, आइये देशभक्ति की
बुझती हुई ज्वाला को मिलकर फिर से जलायें।
आइये, राष्ट्र ध्वज को पुनः शक्तिशाली बनायें।
और सीखकर सबक अतीत की गलतियों से
सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पुनः सक्रिय बनायें
जो भारत को जोड़ने वाली है एक मात्र पहचान।

अपने हृदयों में प्रभू को प्रस्थापित कर
ओठों पर वंदे मातरम् का महामंत्र ले कर
आइये, हम सभी शहीदों और
स्वतंत्रता सेनानियों को याद करें।
उनकी अमर गाथा का स्मरण करें।
कधें से कधें मिलाकर
परिश्रम की पराकाष्ठा कर
आइये, राष्ट्र पुनर्निर्माण के प्रयास में
हम सब जुट जाये।

भारतीय जनता पार्टी

११, अशोक रोड, नई दिल्ली–११० ००१